□
प्रकाशक :
उदयाचल,
राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्रनगर,
पटना-८०००१६

□
चित्रकार
नृपेन राय

□
मूल्य : १२ ००

□
मुद्रक :
सदीप प्रेस,
रोशनघाट, टेकारी रोड,
पटना-८००००६

अर्धनारीश्वर

एक हाथ मे डमरू, एक में वीणा मधुर उदार,
एक नयन मे गरल, एक मे संजीवन की धार।
जटाजूट में लहर पुण्य को शीतलता-सुखकारी,
बालचन्द्र दीपित त्रिपुण्ड पर—बलिहारी ! बलिहारी !

प्रत्याशा मे निखिल विश्व है, ध्यान देवता ! त्यागो,
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि ! जागो।
फेंको कुमुद-फूल मे भर-भर किरण, तेज दो, तप दो,
ताप-तप्त व्याकुल मनुष्य को शीतल चंद्रातप दो।

सूख गये सर, सरित; क्षार निस्सीम जलधि का जल है,
ज्ञानघूर्णि पर चढ़ा मनुज को मार रहा मरुथल है।
इस पावक को शमित करो, मन की यह लपट बुझाओ,
छाया दो नर को, विकल्प की इति से इसे बचाओ।

रचो मनुज का मन, निरभ्रता लेकर शरद्‌गगन की,
भरो प्राण में दीप्ति ज्योति ले शान्त-समुज्ज्वल घन की।
पद्‌म-पत्र पर वारि-विन्दु-निभ नर का हृदय विमल हो,
कूजित अन्तर-मध्य निरन्तर सरिता का कलकल हो।

मही माँगती एक धार, जो सब का हृदय भिगोये,
अवगाहन कर जहाँ मनुजता दाह-द्वेष-विष खोये।
मही माँगती एक गीत, जिसमें चाँदनी भरी हो,
खिले सुमन, सुन जिसे वल्लरी रातो-रात हरी हो।

मही माँगती, ताल-ताल भर जाये श्वेत कमल से,
मही माँगती, फूल कुमुद के बरसे विधुमंडल से।
मही माँगती, प्राण-प्राण में सजी कुसुम की क्यारी,
पाषाणों मे गूँज गीत की, पुरुष-पुरुष मे नारी।

लेशमात्र रस नही. हृदय की पपरी फूट रही है,
मानव का सर्वस्व निरंकुश मेधा लूट रही है।
रचो, रचो शाद्वल, मनुष्य निज मे हरीतिमा पाये,
उपजाओ अश्वत्थ, क्लान्त नर जहाँ तनिक सुस्ताये।

भरो भस्म मे क्लिन्न अरुणता कुंकुम के वर्षण से,
संजीवन दो ओ त्रिनेत्र ! करुणाकर ! वाम नयन से।
प्रत्याशा मे निखिल विश्व है, ध्यान देवता ! त्यागो,
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि ! जागो।

विषय-सूची

विश्वे या किछु महान सृष्टि-चिर-कल्याण-कर,
अर्धेक तार करियाछे नारी, अर्धेक तार नर।

—नजरुल

आमुख

नहीं चाहने पर भी, लेख मै थोड़े बहुत लिखता ही रहता हूँ, यद्यपि कविताओं की तरह सभी लेखों पर मेरी ममता नहीं रहती। तब भी जो लेख मुझे या उन लोगों को पसन्द आ जाते है, जिनके साथ मै साहित्य पर विचार-विनिमय करता हूँ, उन्हें मंजूषा में सजा देने की इच्छा जरूर जग पड़ती है। वर्त्तमान संग्रह भी मेरी इसी प्रवृत्ति का फल है। इस संग्रह में ऐसे भी निबन्ध हैं जो मनबहलाव में लिखे जाने के कारण कविता की चौहद्दी के पास पड़ते हैं और कुछ ऐसे भी है जिनमें बौद्धिक चिन्तन या विश्लेषण प्रधान है। इसीलिए, मैने इस संग्रह का नाम "अर्धनारीश्वर" रखा है, यद्यपि इसमें, अनुपातत, नरत्व अधिक और नारीत्व कम है। किन्तु, यही अनुपात मेरी कविता मे भी रहा है, अतएव, आशा करनी चाहिये कि जिन्हें मेरी कविताएँ पसन्द है, उन्हे ये निबन्ध भी कुछ आनन्द दे सकेंगे।

मुजफ्फरपुर
वसंत पचमी,
सन् १९५२ ई०

—दिनकर

मन्दिर और राजभवन

मन्दिर है उपासना का स्थल, जहाँ मनुष्य अपने-आपको ढूंढता है।

राजभवन है दण्ड-विधान का आवास, जहाँ मनुष्यो को शान्त रहने का पाठ पढाया जाता है।

मन्दिर कहता है, "आओ, हमारी गोद मे आते समय आवरण की क्या आवश्यकता? पारस और लोहे के बीच कागज का एक टुकडा भी नही रहना चाहिए, अन्यथा लोहा लोहा ही रह जायगा।"

और राजभवन कहता है, "हम और तुम समान नही है। हम प्रताप की पोशाक पहने हुए हैं, तुम अधीनता की चादर लपेटे आओ, क्योंकि हम शासक है और तुम शासित। हम तुम्हे गोद मे नही बिठा सकते, अधिक-से-अधिक अपनी कुर्सी के पास स्थान दे सकते है।"

मन्दिर कहता है, "लोग ससार मे लिप्त हैं, वासना के रोगो से पीड़ित हैं; हम उन्हे ससार से विरक्त करेंगे जिससे दण्ड-विधान की जरूरत ही नही रह जाय।"

राजभवन कहता है, "लोग ससार मे अनुरक्त हैं। और जब तक वे अनुरक्त है, तब तक उनपर पहरा देने के लिए एक सत्ता की जरूरत है। वह सत्ता हम हैं।"

मन्दिर कहता है, "हम मनुष्यो को सुधारेंगे।"

राजभवन कहता है, "हम मनुष्यों पर शासन करेंगे।"

गाँधीजी अहिंसा सिखाते-सिखाते स्वयं हिंसा के शिकार हो गये। मन्दिर गिर गया और राजभवन का दण्ड-विधान अपनी जन्मपत्री मे अपना भविष्य देख रहा है।

गाँधीजी की मृत्यु के साथ ससार की एक पुरातन समस्या, मनुष्य-जाति का एक प्राचीन प्रश्न फिर अपनी विकरालता के साथ हमारे सामने आया है।

सन्तो, अवतारो और भविष्य को देखनेवालो की दृष्टि कानून बनानेवालों, शासको और राजपुरुषो के कार्यों से किस प्रकार सम्बद्ध है? दोनो के बीच कौन-सा नाता है? जो मनुष्य के स्वभाव पर पहरा देते है, क्या उनकी आत्मा का मेल उन लोगो से कभी नही बैठेगा, जो मनुष्य के स्वभावको बदलने के लिए आया करते हैं? मन्दिर की स्थापना क्या राजभवन मे नही ही होगी? अथवा, राजभवन क्या मन्दिर मे कभी भी नही समायेगा?

मन्दिर और राजमहल के बीच कोई प्रच्छन्न संघर्ष है जो बहुत दिनो से चल रहा है और जिसका कोई-न-कोई हल निकालना ही होगा, क्योंकि मनुष्य को बदलना भी जरूरी है और उसे अनुशासन के भीतर रखना भी आवश्यक है।

जो कानून बनाते है, जो शासन करते है, उनका दृष्टिकोण वर्तमान से सम्बद्ध रहता है। उनके कार्यों को भूमि ही वर्तमान काल है। मनुष्य अभी जैसा है, उसके सम्बन्ध मे उनकी जैसी धारणा है, अपनी भावना, इच्छा और प्रवृत्तियो से शासक उसे जैसा समझते है, उसके साथ वैसा ही व्यवहार भी करते हैं। वे अदृश्य मे प्रवेश नही कर सकते। उनके सामने मनुष्य का जो निश्चित, स्थूल रूप है और जिसे वे आसानी से समझ सकते है, वही उनके अकुश का लक्ष्य होता है।

इसके विपरीत, जो नबी और अवतार है, जो भविष्य-द्रष्टा, सुधारक और सन्त है, वे मनुष्य के उसी रूप को नही देखते, जो उसका वर्तमान रूप है। वरन्, उनकी दृष्टि मनुष्य के भीतर छिपी हुई सम्भावनाओ पर भी जाती हैं। भ्रमो और मलो का केचुल उतार फेकने पर मनुष्य कितना नवीन और मोहक हो सकता है, यह उनकी सहानुभूति के फैलने का कारण हो जाता है। नबी और अवतार उन अनुभूतियो को जगाना चाहते है, जो अभी इन्सानो को मिल नही सकी है। जो हाथ से दूर है, जो तुरत पकड मे नही आ सकता, जो अदृश्य और अनुपलब्ध है, भविष्य को देखनेवाले सन्त उसे ही समीप लाना चाहते है और उसे समीप लाने के प्रयास मे वे जो कुछ करते या बोलते हैं, वह साधारण मनुष्य की समझ मे ठीक से नहीं आता। रहस्यवादियो की वाणी धुँधली और क्रिया आलोचना से परे होती है, जैसी बापू की थी। और इतर मनुष्य इस क्रिया और इस वाणी के सामने किंकर्त्तव्यविमूढ-से खडे रहते है।

राजमहल चाहता है प्रतिरोध और प्रताप, सम्पत्ति, शक्ति और विशालता। हम कुबेर हैं, हम सूर्य हैं, हम अर्जुन और भीम है, हम दहकते हुए अगारे है और जो कोई हमारा स्पर्श करेगा, वह जल जायगा। भला कौन कह सकता है कि राजमहल के उद्देश्य हीन है?

मगर, मन्दिर सिखाता है अनवरोध; मन्दिर सिखाता है विनयशीलता, मन्दिर सिखाता है अपरिग्रह, दीनता और ब्रह्मचर्य।

शंकालु कहते है, ब्रह्मचर्य के अखण्ड पालन से मनुष्य-जाति समाप्त हो जायगी। अपरिग्रह और दीनता की प्रशसा करते-करते हम ऐसी विपत्तियो मे पड जायेंगे, जिनसे निस्तार पाना कठिन होगा।

विनयशीलता और अनवरोध को, अगर हमने, अपना जीवन-सिद्धान्त बनाया तो इसका परिणाम तो जघन्य शक्तियो की विजय और विकास ही होगा?

तब क्या सन्तो, नबियो, अवतारो और सुधारको ने इस अत्यन्त स्पष्ट सत्य को ही नही समझा और आँख मूँदकर अपने प्रभाव मे आये हुए मानव-समुदाय को आत्मघात करने की शिक्षा दे दी?

हम नहीं मानते कि एक मोटी बात जो सबकी समझ मे आती है, सिर्फ सन्तो की ही समझ मे नही आई। और न हम यही मानते है कि नबियो ने हमसे यह आग्रह किया है कि जो कुछ मैं कहता हूँ, तुम उसे अपने आचरण का कठोर नियम बना लो।

जब बापू चाँदपुर (नोआखाली) गये, उन से कुछ बंगाली नवयुवको ने वहाँ की विपत्ति की कहानियाँ सुनाईं और कहा कि आप जो अहिंसा सिखाते हैं, वह यहाँ एकदम असफल होगी। कोई युवती जीभ काटकर मर जाय या जहर खा ले, इससे दूसरी युवती का सतीत्व नही बच सकता और न अनुनय, विनय और अहिंसा तथा प्रेम का साँपो और भेडियो पर कोई प्रभाव ही पडता है।

राजमहल ने समझा था कि मन्दिर पराजित और निरुत्तर हो जायगा। मगर, मन्दिर निरुत्तर कैसे हो? जो भविष्य को देखता और समझता है, वह क्या वर्तमान को ही नही समझ सकता? हठ और जिद तो अधकचरे दिमाग के लक्षण हैं। सत्य को खोजनेवाला पुरुष तो बराबर यही सोचता है कि सम्भव है, किसी बात मे मैं ही गलत और दूसरे लोग ही ठीक हो। जब हम सत्य की ओर बढने-वाली सीधी राह पर आ जाते हैं, तब हमारी भावना उदार हो जाती है और हम किसी बात पर जिद नही करते। १९४२ मे गाँधीजी ने लुई फिशर से कहा था कि "मैं, प्रधानतः, समझौतो मे विश्वास करनेवाला जीव हूँ; क्योकि मुझे कभी भी यकीन नही रहता कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह ठीक ही है।"

किसी समय चटगाँव के शस्त्रागार पर छापा मारनेवाले नोआखाली के इन नौजवानो से बापू ने कहा, "मैं यह हठ करने के लिए नही आया हूँ कि तुम उसी वीरता का प्रयोग करो, जिसका मैं अभ्यासी हूँ। तुम परम्परागत वीरता से भी काम ले सकते हो। किन्तु स्मरण रहे कि मैं चटगाँव के शस्त्रागार पर छापा मारनेवालो के बीच हथियार बाँटने को यहाँ नही आया हूँ।"

मन्दिर हठ नही करता। मन्दिर यह नही कहता कि मेरी तमाम लकीरें तुम्हारे जीवन की पगडडियाँ है और उन्हे छोडकर तुम्हें और कही नही जाना चाहिए। ये तो रोशनी की छोटी-बड़ी शलाकाएँ हैं जिन्हें लेकर हमे जीवन के मर्म को समझना है।

ज्ञान और साधना के चरम शिखर पर बैठा हुआ सन्त यह नही कहता कि मैं तुम्हारे दैनिक जीवन के क्षण-क्षण के आचरणों के नियम बोलता हूँ, वरन्, यह कि मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे सोच-समझकर तुम यह निश्चय करो कि जीवन के ये कौन से उद्देश्य हैं, कौन-सी दिशाएँ है, जिनके प्रति तुम्हे वफादार रहना चाहिए।

सन्त कहते हैं कि तुम्हारे जिम्मे जिसका जो पावना है, उसे वह अदा कर दो; किन्तु अपनी अतिम भक्ति और आखिरी वफादारी उसके चरणो मे अर्पित मत करो।

और अब नबियो की धुँधली वाणी के भेद हम पर खुल सकते है कि :—

विनयशीलता का अर्थ इतना ही है कि दलीलो की घाटियो से होते हुए जब तुम विश्वास की चोटी पर जा पहुँचो, तब भी दुराग्रही मत बनो। तब भी तुम एक प्रकार के विरल सशय को अपने आसपास मँडराते रहने दो कि मुमकिन है कि दूसरी चोटियाँ भी ठीक हों।

अपरिग्रह का आशय इतना ही है कि अधिकार के मद मे मत भूलो। समृद्धि, सुयश और सम्मान के बीच भी विराग ही तुम्हारी सब से बड़ी शोभा है।

और अनवरोध का तात्पर्य यह है कि दुनिया मे खड्गहस्त लोगो के बीच जो स्पर्धा और द्वन्द्व मचा हुआ है, हिंसा की जो भीषण घुडदौड चल रही है, उसके अग्रणी तुम मत बनो।

और चाहिए किरण जगत को
और चाहिए चिनगारी

प्रकाश का निर्माण कर पन्थी ! क्योकि इससे तुझे तेरी राह मिलेगी और इसके सहारे दूसरे लोग भी अपना मार्ग निर्धारित करेगे।

पिता अपनी प्रगति के लिए प्रकाश ढूँढता है, किन्तु, वह उसे अपनी सन्तान को भी दे जाता है।

प्रकाश पर अधिकार व्यष्टि का नही, समष्टि का होता है। रोशनी सारी इन्सानियत की पूँजी है और प्रकाश निखिल ससार की निधि।

भगीरथ एक होता है, किन्तु, उसकी लाई गङ्गा अनन्त मानवो का उद्धार करती है।

मनुष्य एक है . मनुष्य अविभाज्य है।

हाथ से कमाई हुई रोटी का रस क्या पाँव के लिए पुष्टिकारक नही होता ?

मानवता अन्धकार की कारा से युद्ध कर रही है। ससार के कोने-कोने मे इस प्राचीर पर प्रहार किये जा रहे है। पता नही, यह प्राचीर पहले कहाँ टूटेगा। मगर, जहाँ भी टूटे, प्रकाश का जो प्रवाह फूट निकलेगा, वह एक-दो खण्डो को नही, समस्त मानवता को प्लावित करेगा।

हम प्रकाश चाहते हैं, परम्परा की तमिस्रा को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले विभा-विशिखो से संवलित ज्ञान का प्रकाश, रूढियो के जाल पर ज्वालापात करने-वाला उद्धारक प्रकाश, मनुष्य और मनुष्य के बीच जो एक नैसर्गिक सम्बन्ध है, उसे प्रत्यक्ष करके दिखलानेवाला समत्वविधायक प्रकाश।

और हम चिनगारियाँ भी चाहते है। प्रतिभा के मूल-पुञ्ज से छिटकनेवाली देदीप्यमान ज्ञान की चिनगारियाँ, कायरता को भस्मीभूत करनेवाले तेज और ओज की चिनगारियाँ, बलिदान के पन्थ पर आरूढ रहने का प्रोत्साहन देनेवाली त्याग की चिनगारियाँ।

ओ मनुष्य ! जो कुछ तुम्हे मिला है, वही तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य नही था। यह प्राप्ति तो केवल इस आश्वासन के लिए है, तुममे केवल यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए है कि तुम्हारा श्रम व्यर्थ नही जा सकता ; कि चलनेवाला आगे ही बढता जाता है ; कि चलनेवाला अपने लक्ष्य तक पहुँचकर रहेगा।

ये तारे और दीप तुम्हारी प्रगति के पथ के प्रकाश-स्तम्भ हैं। ये बतलाते है कि अनादि काल से मनुष्य अन्धकार को भेदने के लिए अपने प्रयत्नो से प्रकाश का

निर्माण करता आ रहा है। ये बतलाते हैं कि इन छोटे दीपो और इन टिमटिमाते ताराओ से उसे सन्तोष नही। वह तो उस उद्गम-स्थल पर पहुँचना चाहता है, जहाँ विश्व का सम्पूर्ण प्रकाश विराज रहा है, जहाँ ज्ञान की सम्पूर्ण अग्नि अपने पूरे तेज के साथ शोभित है।

ज्ञान के उद्गम, प्रकाश के आदि स्रोत के आमने-सामने खडे होकर हम अपने-आप को पहचानना चाहते है। ये दीप जिसके दूत हैं, ये तारे जिसके सकेत हैं, उस आलोक-पुञ्ज का परिचय हमे मिलना ही चाहिए।

आकाशगगा कहती है—"ओ ज्योति के आकुल अन्वेषको! मेरे किनारे-किनारे चलो, तुम अपने लक्ष्य तक पहुँचकर रहोगे।"

पृथ्वी कहती है—"आलोक की जननी मैं हूँ। इन दीपो के प्रकाश मे अपनी राह खोज लो।"

मगर शुक्र को ही सूर्य मानकर जो भूल जाय, उसे क्या कहिये?

ऊपर, ऊपर, और ऊपर मेरे जीवराज! रोशनी की इन लकीरो से आगे भी कोई देश है, जिसपर तुम्हे कब्जा करना होगा।

सितारो से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।

दीवाली
१९५०

दीपक की लौ अपनी ओर

अँधेरे मे सभी लोग भटक रहे हैं। किसी को भी नही सूझता कि गलती किसकी है।

माँझी कहता है, "पतवार ठीक है ; गलती लग्गीवाले ने की होगी।" और लग्गीवाला कहता है, "मैं भी ठीक हूँ और नाव भी ठीक है। सारा फसाद इस नदी ने बरपा किया है, जिसकी छाती पर हमलोग घूम रहे हैं।"

पट्टाभि कहते हैं, "कांग्रेस की हालत गड़बड़ है।" कृपालानीजी ने उसे गड़बड़ मानकर अलग सेवाश्रम बसाना शुरू किया है। कांग्रेसवालो ने कहा, "सरकारी अफसर बडे मूजी हैं। वे समय के अनुसार बदलने मे देर लगाते हैं। वे अगर ठीक होते, तो सारा काम यो ही जाता।"

इस पर सरदार पटेल नाराज हो गये। उन्होने कहा कि "अगर सिविल-सर्विसवालो पर तुम हाथ उठाओगे, तो मैं उनको साथ लेकर सरकार से बाहर हो जाऊँगा। कहूँगा, 'देखो, यह देश बदल गया है। अब हम और तुम यहाँ नही टिक सकते। इसलिए, चलो, कही दूर-दराज का रास्ता नापें।'"

हिन्दू कहते हैं, "सारा कसूर मुसलमानो का है। वे इस देश को अपना देश क्यो नही समझते ?"

और मुसलमान कहते हैं, "बँटवारे के बाद से हिन्दुओं का मिजाज वही नही रह गया है, जो पहले था। अब तो वे आँखो से ही मारे डालते हैं।"

सारा देश कहता है कि हमे एक राष्ट्र चाहिए, एक भाषा और एक सरकार चाहिए। मगर जब एक राष्ट्र बनाने का प्रस्ताव आता है, तब जाट कहते हैं, हमे जाटिस्तान दो ; सिख कहते है, हमे सिक्खिस्तान दो और मराठे कहते हैं, हमें महाराष्ट्र की वैयक्तिकता का विकास चाहिए। और बगाल कहता है, पहले यह बताओ कि गोखले की इस उक्ति मे तुम्हारा आज भी विश्वास है या नही कि "जिस बात को बगाली आज सोचते हैं, उसे सारा भारतवर्ष कल सोचेगा।"

और जब एक भाषा बनाने की बात आती है, तब बंगाल कहता है, हिन्दी "भेड़ुओ" की बोली है, महाराष्ट्र कहता है कि मराठी हिन्दी से बुरी किस बात मे है और मुसलमान मन-ही-मन पछाड खाकर रह जाते हैं कि हाय री किस्मत ! अब उर्दू के लिए लड़ना भी असम्भव हो गया !

और सब मिलकर यह कहते है कि खैर, अगर इसी भाषा को राजगद्दी देनी है, तो इसकी एक टाँग सखुए की और दूसरी सागवान की होनी चाहिए और हो सके तो इसकी एक आँख भी निकालकर उसकी जगह पर शीशे की आँख लगा दो।

सबकी शिखाएँ जब अंग्रेजो के हाथ मे थी, तब कोई नही बोलता था। तब सिर्फ वे ही लोग बोलते थे, जिनमे कुछ दम था। मगर, अंग्रेजो के हटते ही सबकी शिखाएँ हवा मे फरफरा रही है और सबके पेट से कोई-न-कोई बात उमडकर जुबान पर आ रही है। ईश्वर न करे कि अभागे एक-दूसरे से लडने भी लगे।

गाँधीजी सब समझते थे। उन्होने कहा, "क्यो नाहक दूसरो के ऐब ढूंढते चलते हो? माना कि सभी पापी है, सभी अन्धे हैं, सभी गुनहगार हैं, लेकिन, तुम दूसरो को क्या उपदेश दे रहे हो? जरा अपने भीतर तो झाँककर देखो कि वहाँ सुधार की कोई गुन्जाइश है या नही? अगर है, तो फिर तुम्हारे सामने काफी जरूरी काम मौजूद है। सबसे पहले इसी पर ध्यान दो। सबसे पहले अपना सुधार करो। और जब तक तुम खुद मैले हो, तब तक तुम्हे दूसरो को उपदेश देने का क्या अधिकार है? और तब तक दूसरे लोगो पर तुम्हारी बातो का असर भी क्या होगा?"

दीपक बडे उद्योग से मिलता है और उसमे जो रोशनी चमक उठती है, उसके पीछे भी पुण्य का बडा सचय रहता है।

ऐसे कीमती दीपक को लेकर तुम आकाश मे क्या ढूंढते हो मनुष्य? ऐसी अलभ्य ज्योति को तुम दरवाजे के बाहर क्या सोचकर धर आती हो मेरी बहनो।

जिस अन्धकार को जलाकर छिन्न-भिन्न कर देने के लिये तुम मशालें लेकर बाहर कूद रहे हो, उसका असली उत्स तो तुम्हारे भीतर छिपा पडा है। भीतर भी अन्धकार है। भीतर भी कीडे-मकोडे उड रहे हैं।

और भीतर भी तूफान है, जिससे इस दीपक को बचाये रहना है।

और भीतर भी एक देवता है, जिसके मन्दिर मे बहुत दिनो से कोई आरती नही सँजोयी गई है!

आज दीवाली के दिन तो उस मन्दिर मे झाडू-बहारू लगा दो कि देवता ठीक से दिखलाई पडे।

और दीपक की इस लौ को आज की रात बाहर मत रखो, बल्कि उसे भीतर की ओर मोड दो।

जो भी सुगन्ध हो, उसकी धारा को प्राणो मे बहाओ।

जो भी चन्दन हो, उसका लेप अन्तर्वासी देवता को अर्पित करो।

जो भी फूल है, उनका हार अपने हृदय को चढाओ।

यह आत्मपूजा सर्वात्मा की अर्चना है। यह भीतर की सफाई ही ससार की असली सफाई है।

भीतर एक दीप जलाओ और सोचो कि समस्या क्या है, उसका निदान कैसे मिलेगा और गाँधीजी क्या कहते थे?

अगर गाँधीजी की बात हमने मानी होती, तो भारतवर्ष के तैंतीस करोड लोगों

के दिलो में रोशनी की तैतीस करोड लकीरें हुई होती, जिनपर पाँव धरकर भारत की आत्मा ज्योति से अठखेलियाँ करती ।

मगर, गाँधीजी की बातो की अवज्ञा करके हमने बाहर ही नही, भीतर भी अधकार फैला रखा है ।

अन्दर-बाहर सर्वत्र ही अन्धकार ! अन्दर और बाहर सर्वत्र ही चिल्लाहट ! इतनी बडी चिल्लाहट कि हम अपने छोटे श्रवणो से उसे सुनने मे भी असमर्थ है ।

हर आदमी अपनी जिम्मेवारी दूसरो पर फेक रहा है । हर आदमी अपने को निर्दोष और दूसरो को दोषी बता रहा है । हर आदमी अपने गले के फन्दे को किसी-न-किसी तरह दूसरो के गले मे डाल देने की फिक्र मे है !

नाव डगमगा रही है । बडा कोलाहल है । बड़ी हलचल है । और सब-के-सब डूब रहे हैं ।

कौन है, जो हर आदमी के दिल मे एक चिराग जला दे और उससे कहे कि पहले अपनी मलिनता और अपने अन्धकार को दूर करो ? दीवाली की रात पूछती है कि कौन है ?

दीवाली }
१९५१ }

हड्डी का चिराग

कार्तिक-अमावस्या की सरणी हिन्दू-इतिहास मे आलोक की लडी बनकर चमकती आई है। प्रत्येक वर्ष की एक अँधेरी रात को भारत की मिट्टी अपने अग मे असख्य दीपो के गहने पहनकर तारो-भरे आकाश से होड लेती है और आदर्शनिष्ठ हिन्दू प्रकृति को यह सदेश देता है कि काल-निर्मित कुरूप अन्धकार को वह सौन्दर्य और ज्योति दे सकता है। आलोक सर्वजयी पुरुष का प्राण-धन और उसके भीतर बसनेवाली आशा का प्रतीक है। वर्ष मे एक बार अँधेरी रात को पुरुष प्रतिज्ञा करता है कि वह अन्धकार की सत्ता को स्वीकार नही करेगा। जब सूर्य और चन्द्र पराजित होकर धरती को अन्धकार मे छोड देंगे, तब वह मिट्टी के दीयो से आलोक का सर्जन करेगा और ज्योति मे चलेगा।

आज हिमालय की गुहा मे भीषण अन्धकार का साम्राज्य है। सूर्य, चन्द्र और कितने ही उपग्रह पराजय स्वीकार करके क्षितिज के पार उतर गये है। सत्ता दीखती है तो धूमकेतु और उल्कापात की, जो इस अन्धकार को और भी डरावना बना रहे हैं। तिमिरकाय दैत्य ने अपनी जादू की छडी घुमाकर जीवन के प्रत्येक अग को जडता के पाश मे बाँध रखा है। न कोई आहट है और न कोई नाद। ऐसा लगता है कि हमारा समग्र राष्ट्रीय जीवन ही शिथिल और विजडित हो गया है। चट्टानो के बीच केवल एक बूढे सिंह का हुङ्कार गूँजता है, लेकिन चट्टाने टूटती नही, केवल हिलकर रह जाती है और हुङ्कार की व्यग्यपूर्ण प्रतिध्वनि को सिंह के ही इर्द-गिर्द लौटा देती है।

बरसो से देश के शेर सीखचो मे बन्द है और बाहर शृगाल और भेडिये अपनी तुरही बजा रहे हैं। देश ने गर्जन किया, लेकिन, बन्दी-गृह के प्राचीर नही गिरे। देश ने तप्त आहे भेजी, लेकिन सीखचे गले नही, कडियाँ पिघली नही। देश ने आक्रोश भेजा, लेकिन, प्रलय के बादल घुमडकर रह गये—शाप का एक वज्र भी आततायियो पर नही गिरा सके, क्रोध, आक्रोश, गर्जन, आँसू और आह—सब के सब बेकार हुए। अस्सी वर्षों की कठिन तपस्या जब सफल होने जा रही थी, ठीक तभी इन्द्र का आसन डोल गया। मार ने आकर अभियानियो का मार्ग घेर लिया। निर्भीक प्रवाहित होनेवाला निर्झर सहसा ठिठककर रुक गया। वर्षों से उद्दीप्त होकर जलनेवाली आग ने अपनी लपटें समेट ली, मानो किसी दुष्ट देवता ने उसकी गति बाँध दी हो।

कविता की भाषा छोड़कर हम सीधा प्रश्न उठाना चाहते है कि इस जडता का अन्त कब और कैसे होगा। इतिहास-निर्माण की अलभ्य घडियाँ, एक के बाद

दूसरी, व्यर्थ बीतती जा रही हैं। जो समय और शक्ति स्वन्त्रता-स्थापना की तैयारी मे व्यय होती, वह विफलता-बोध और अनुपयोगी विलाप के कारण नष्ट होती जा रही है। हमारा देश अब चौराहे पर नही है! वह उसे पारकर के उस पथ-पर आ गया है, जो सीधे स्वाधीनता के मन्दिर मे जाता है! एक नही, हजार चर्चिलो का यह दावा झूठ है कि साम्राज्यवाद की हिलती दीवारें अब किसी प्रकार भी स्थिर की जा सकती है। जन-शक्ति का प्राबल्य इस युद्ध से अदृष्टपूर्व भीषणता के साथ निकलता आ रहा है। जो शक्ति अपार ससार का मूल हिला रही है, उसके धक्को के सामने चर्चिल और एमरी तूफान मे रूई के फाहो की तरह उड़ जानेवाले हैं। किसी भी जाति का बलिदान व्यर्थ नही जा सकता। मिट्टी पर गिरा हुआ पानी भी सब्जी पैदा करता है। फिर कौन कह सकता है कि भारतीय वीरो का लोहू देश के लिए आलोक का सृजन नही करेगा? हमारा बलिदान व्यर्थ नही जा सकता।

चिनगारी बन गई लहू की बूँद गिरी जो पग से,
चमक रहे, पीछे मुड़ देखो, चरण-चिह्न जगमग से।

आवश्यकता इस बात की है कि विफलता को स्वीकार नही करें। इस समय हमे अधिक-से-अधिक विश्वास, निष्ठा और आदर्श के लिए दुराग्रह की जरूरत है। कर्मनिष्ठ योगियो का मार्ग कोई भी नही रोक सकता। युद्ध के बाद ही हमें बहुत बड़े राष्ट्रीय प्रश्न का सामना करना होगा। आचानक हम एक ऐसी राष्ट्रीय परिस्थिति के सम्मुख आ जानेवाले हैं, जिसका कभी अन्दाज भी नही किया गया था। वैधानिक सकटो के रहते हुए भी हमारे सामने जन-सेवा के अनन्त मार्ग खुले हुए है, जिनपर चलने से हमे कोई नही रोक सकता। देश की पीडित जनता को हमारी सेवाओ की जैसी आवश्यकता आज है, वैसी पहले कभी नही हुई थी। अकर्मण्यता तथा निष्फलता के विषैले वातावरण को दूर करने का केवल एक ही उपाय है कि हम अपनी पूर्व-परिचित तपस्या के मार्ग पर आरूढ हो जायँ। जिन्होने अपना जीवन देश के लिए अर्पित कर दिया है, उनकी सेवाओ से देश किसी भी परिस्थिति मे वञ्चित नही रखा जा सकता।

इतिहास की सरणी मे आई हुई आज की दीवाली उस पुरुष को खोज रही है, जिसने युग-युग से यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि हम अन्धकार को स्वीकार नही करेंगे।

ज्योतिर्मय मनुष्य! तू अपने को भूल रहा है। तुझ मे बुद्ध का तेज है, जिसने स्वर्ग और पृथ्वी, दोनो के लिए प्रकाश का निर्माण किया था। तुझमे राणा प्रताप का प्रताप है, जिसने वन-वन मारे-मारे फिरकर भी अपने आदर्श के प्रदीप को बुझने नही दिया। तुझमें मन्सूर की जिद है, जिसके मर जाने पर भी उसके मास की बोटी-बोटी "अनलहक" पुकारती थी। आज का घनान्धकार तेरे पौरुष को

चुनौती दे रहा है। नीद से जाग ! आलस्य को झाडकर उठ खडा हो ! सूरज और चाँद के प्रकाश मे चलनेवाले बहुत हो चुके हैं। इतिहास उनकी गिनती नही करता। आज तुझे अपने भीतर के तेज को प्रत्यक्ष करना है। तेरे लोहू मे तेल, शिरा मे वर्त्तिका और हड्डी मे चिराग है। मिट्टी के दीये शाम को जलते और सुबह से पहले ही बुझ जाते हैं। आज दीवाली की रात अपनी हड्डी के उस चिराग को जला, जिसकी लौ सदियो तक जलती रहती है।

दीवाली
१९४४

महाकाव्य की वेला

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने लगभग दो हजार गीत और असख्य कविताएँ लिखी, किन्तु, महाकाव्य उन्होंने एक भी नही लिखा। महाकाव्य तभी लिखा जाता है जबकि युग की अनेक विचारधाराएँ वेग से बहती हुई किसी महासमुद्र मे मिलना चाहती है। जब ऐसी अनेक धाराएँ वेगवन्त प्रवाह मे होती हैं, तभी महाकाव्य की रचना का समय आता है और जो कवि उनके महामिलन के लिए सागर का निर्माण कर सकता है, वही महाकाव्य लिखने का अधिकारी होता है। महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करनेवाली अनेक भाव-धाराओ के बीच सामञ्जस्य लाने का प्रयास है, महाकाव्य की रचना समय के परस्पर विरोधी प्रश्नो के समाधान की चेष्टा है। जब परम्परा से आनेवाले महान् प्रश्नो और भावो की अनुभूति मे परिवर्तन होता है, तब मनुष्य का सस्कार भी परिवर्तित होने लगता है तथा इस परिवर्तित सस्कार को चित्रित करने के लिये ही महाकाव्य लिखे जाते हैं। विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग मे मील के पत्थरो के समान होते है, वे व्यञ्जित करते है कि मनुष्य किस युग मे कहाँ तक प्रगति कर सका है।

किन्तु, यह लक्षण जिन महाकाव्यो मे घटित होते हैं, उनकी संख्या अधिक नही है। इलियड, एनिड, ओडेसी और डिवाइन कामेडी—ये पश्चिम के कुछ प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसी प्रकार, प्राचीन भारत मे जिन महाकाव्यो का निर्माण हुआ, उनमे रामायण और महाभारत प्रधान है। जो काम पहले महाकाव्य करते थे, वही काम बाद को नाटको और उपन्यासो के द्वारा किया जाने लगा। अतएव, हम देखते हैं कि बाद के साहित्य मे बहुत-से नाटककार और औपन्यासिक ऐसे हुए, जो अगर कवि हुए होते, तो उनका स्थान रामायण और महाभारत, इलियड और ओडेसी के रचयिताओ के ही समकक्ष होता। नाटककार इब्सेन और वर्नार्ड शा, उपन्यास-लेखक रोमाँ-रोलाँ और गोर्की—इनमे से प्रत्येक ने अपने समय की महान् समस्याओ के भीतर पैठकर उनका निदान खोजने की कोशिश की है और प्रत्येक ने अपने क्षेत्र मे वही काम किया है, जो महाकाव्यो के द्वारा कवि किया करते थे। जर्मन कवि गोटे और जर्मन दार्शनिक नीत्से की रचनाओ मे भी हम महाकाव्य की ही झाँकी पाते है।

न जाने रवीन्द्रनाथ ने महाकाव्य क्यो नही लिखा। अगर उनकी प्रतिभा महाकाव्य की ओर प्रेरित हुई होती, तो अवश्य ही वे ससार को कोई ऐसी रचना दे जाते, जिसके सहारे हम अपने समय की अनन्त समस्याओ के बीच समीचीन सामञ्जस्य बिठा सकते थे। रवि बाबू ने चुन-चुनकर मनोहारी पुरुषो पर अपनी

प्रतिभा की शबनम बरसायी ! अगर उन्होने महाकाव्य लिखा होता, तो वे शीतल जल से पूर्ण एक ऐसा जलाशय भी छोड जाते, जो सूखना नही जानता और जिसके घाट पर अनेक युगो के लोग अपनी प्यास बुझा सकते थे। अनेक युगो की आत्माओ की तृप्ति के लिये रवि बाबू यथेष्ट जल छोड गये है। किन्तु, वह शबनम के रूप मे फूलो की पत्तियो पर विकीर्ण है और यह शबनम कभी सूखेगी भी नही। किन्तु, शबनम के लिये फूल-फूल पर घूमते फिरना एक बात है और प्यासे को एक सरोवर की ओर सकेत कर देना बिलकुल दूसरी बात।

तोभी ऐसा लगता है कि रवि बाबू ने जो अपने युग को, महाकाव्य को प्रेरित करनेवाले गुणो से रहित समझा, उसका कारण यह था कि वे १९वी सदी मे पैदा हुए थे और, यद्यपि, वे बीसवी सदी के, प्राय, पूर्वार्द्ध तक लिखते रहे, फिर भी उनकी मुद्रा १९वी सदी की ही रही और जिन उपादानो का उन्होने अपने यौवन-काल मे सचय किया था, वे उपादान उनकी दृष्टि मे अन्त तक मूल्यवान बने रहे !

यह भी सत्य है कि जिन प्रश्नो और समस्याओ के कारण, आज की मानवता विकल दीख रही है, वे १९वी सदी मे, बीजरूप मे ही परिलक्षित होती थी और उनका अतिविकास वर्तमान शताब्दी मे ही सम्भव हो सका है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ अपने यौवन-काल मे जिस मनोदशा का निर्माण कर चुके थे, वह मनोदशा इन समस्याओ की विकरालता को स्वीकार नही कर सकती थी। अतएव, वे अन्त तक अपने उसी मानस-जगत मे धैर्य के साथ विराजमान रहे, जो उन्हे १९वी सदी के हाथो प्राप्त हुआ था।

विशेषत:, भारत मे उन्नीसवी शताब्दी बौद्धिक तृप्ति की शताब्दी थी और कर्म के साथ उसका उचित सयोग नही था। यह ठीक है कि राममोहन राय और दयानन्द तथा रामकृष्ण और विवेकानन्द के व्यक्तित्व में हम एक नव जागरण की आभा पाते हैं। किन्तु, यह आभा हमारे मन को जो-कुछ दिखलाती है, वह प्रधानत:, धर्म और भक्ति का शृङ्ग है, वह आत्मा की उपासना का मन्दिर और हृदय की आकुल भावनाओ का ताल है, जिसपर छाये हुए सेवार को ये महात्मा दूर करने की कोशिश करते है। कर्म की प्रेरणा और लोगो की अपेक्षा विवेकानन्द की वाणी मे कुछ अधिक थी। किन्तु, देश के सामने पराधीनता की समस्या इतनी प्रचण्ड होकर खडी थी कि हम विवेकानन्द से जो स्फूर्त्ति प्राप्त कर सके, वह सीधे स्वातन्त्र्य-सग्राम मे जा लगी और हम उन अनन्त समस्याओ को नही देख सके जो पहले से ही विद्यमान थी और जो भारतवर्ष को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी विकल कर रही हैं।

एक दृष्टि से देखा जाय, तो स्वातन्त्र्य-सग्राम के दिनो मे, भारत मे सचमुच ही महाकाव्य की रचना नही की जा सकती थी, क्योकि पराधीनता की समस्या

के सामने-और सारी समस्याएँ गौण एव अप्रमुख हो गयी थी। लोगो के सामने केवल एक ही दीवार थी, जिसपर वे अहर्निश प्रहार करते थे। लेकिन, समस्याएँ जब दिखलायी नही पडती है, तब भी उनका दश तो हमें भोगना ही पडता है। और सच ही उनके दशो का अनुभव हम भी करते थे, किन्तु, हमारा भाव यह था कि गुलामी की दीवार ही इन दु खो का असली मूल है और यह दीवार टूटी नही कि सारी-मुसीबते काफूर हो जायँगी।

इन अनेक विपत्तियो की अनुभूति रवीन्द्रनाथ को हुई थी और उन्होंने 'ए वार फिराओ मोरे'' नामक अपनी एक स्फुट कविता मे उन विपत्तियों की ओर सकेत भी किया।

> कवि, तबे उठे एसो, यदि थाके प्राण,
> तबे ताई लहो साथे, तबे ताई कोरो आजि दान।
> बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार,
> बड़ोई दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र, बद्ध अन्धकार।
> अन्न चाई, प्राण चाई, आलो चाई, चाई मुक्त वायु,
> चाई बल, चाई स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु।
> साहस-विस्तृत वक्षपट, एई दैन्य माझारे कवि,
> एक बार निये एसो स्वर्ग होते विश्वासेर छवि।

"कवि, यदि तुममे प्राण है, तो उठो, उसे साथ लेकर चलो और उसका आज दान करो। इस ससार मे बडे ही दु ख है, बडी व्यथाएँ है, बड़ी गरीबी है। हाय, यह तो बडा शून्य है, बडा छोटा है, बडा अन्धकार है। अन्न चाहिए, प्राण चाहिए, रोशनी चाहिए, खुली हवा चाहिए, शक्ति चाहिए, स्वास्थ्य चाहिए, आनन्द से उज्ज्वल आयु चाहिए और साहस से विस्तृत हृदय चाहिए। हे कवि! इस दीनता मे एक बार स्वर्ग से विश्वास तो ले आओ।" [मन्मथनाथ गुप्त कृत अनुवाद से]।

किन्तु, जहाँ विश्व की अगणित कुरूप पीड़ाएँ, उन्हे इस रूप मे ललकार रही थीं, वहाँ उनके हृदय के निभृत कोने मे एक प्रबल आध्यात्मिक विश्वास भी आसन जमाये बैठा था, जो उनके भीतर के मनुष्य को समाज की उलझनो से दूर रखकर वैयक्तिक मुक्ति की साधना के लिए तैयार कर रहा था।

> विश्व यदि चले जाय काँदिते-काँदिते,
> एका आमि बसे रबो मुक्ति-समाधिते।

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि रवीन्द्रनाथ अगर बीसवी सदी मे जन्म लिये होते और जिन पीडाओ की ओर उन्होने "ए वार फिराओ मोरे" मे सकेत किया है, उनकी अनुभूति मे उन्नीसवी सदी की ज्ञानप्रधान आध्यात्मिक मुद्रा उनकी सहायक या वाधक नही हुई होती, तो वे युग की समस्याओ को अचिर मानकर, उनकी ओर से मुँह नही फेर लेते। तब वे, शायद, इन समस्याओ के

व्यूह मे घुसकर वह करतव दिखाते, जो इब्सेन और शा, रोमाँ-रोलाँ और गोर्की मे से कोई भी नही दिखला सका है ; क्योकि कविता मनुष्य के हृदय को जिस सुगमता से पकड़ सकती है, उस सुगमता से आदमी को और कोई भी साहित्य नही पकड़ सकता। अगर परस्पर-विरोधी भावो का आक्रमण कवि को महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दे सकता है, तो उसका समय आज है। अगर महाकाव्य की रचना का समय, वह युग होता है, जब कि प्रश्नो की विभिन्न धाराएँ अपना समाधान पाने के लिए किसी समुद्र की खोज मे वेग से दौडती होती हैं, तो वह समय आज ही आया हुआ है।

मनुष्य ने आध्यात्मिकता को निस्सार समझकर जडता को जोर से पकडा और एक बार उसके मुँह से आनन्द की किलकारी भी निकली कि पहले जिन हाथो मे हवा और शून्य ही आ पाते थे, अबकी उनकी पकड मे एक ठोस चीज आ गई है। मगर, यह किलकारी देर तक नही ठहरी। उसने हाथ मे आई हुई चीज के घनत्व को तो समझा, किन्तु, उसे निर्जीव देखकर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा उतर गया। मनुष्य ने हृदय की राह पर चलते-चलते थककर मस्तिष्क की राह पकड़ी और यह सोचने लगा कि इस रास्ते से वह जहाँ चाहे, वहाँ जा सकता है। पानी के नीचे, आकाश के अन्तराल और पहाड की खोह मे वह बडी ही वीरता से चलता रहा और ज्यो-ज्यो प्रकृति उसके सामने पराजित होती गई, त्यो-त्यो उसका अहकार बढता गया, यहाँ तक कि आज वह यह भी सोचने लगा है कि इस सृष्टि को वह चाहे तो सिर्फ सात दिनो मे बर्बाद कर सकता है। तो साफ बात यह है कि विज्ञान का उपयोग वह उन त्रासो को बढाने के लिए करना चाहता है, जो त्रास अनन्त काल से ससार को सता रहे हैं। विज्ञान का उपयोग वह दूसरो को काटने के लिए करना चाहता है, किन्तु, मन-ही-मन उसे भय भी लगा हुआ है कि विज्ञान की तलवार की धार एक ही नही, दोनो ओर है और उससे काटनेवाले का अंग भी मजे मे कट सकता है। क्या बात है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य का आरम्भ तो सदुद्देश्य से करता है, किन्तु परिणाम उसके दुःखदायी हो रहे हैं? जीवन पर विजय पाने के प्रयास मे, मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो रहा है, विश्व को सजाने की कोशिश मे, वह इसे और भी कुरूप बनाये जा रहा है तथा सत्य की समीपता की प्राप्ति के प्रयत्न मे वह उससे और भी दूर पड़ता जा रहा है? गाँधीजी ने जीवन भर अहिंसा का उपदेश दिया; किन्तु, मरने के पहले उन्होने यह देख लिया कि आजीवन अगर वे लोगो को हिंसा भी सिखलाते रहते, तब भी लोग, शायद, इतनी घोर और इस नीच ढग की हिंसा नही कर सकते थे। मार्क्स ने आधिभौतिकता की उपासना के द्वारा मनुष्यो को सुखी बनाने का उपदेश दिया था, किन्तु, उनके मार्ग पर किये जानेवाले इतने बडे प्रयोग के पास खडा होकर भी मनुष्य यह सोच रहा है कि आत्मा की सर्वथा उपेक्षा करना ठीक है, या नही। जीवन मे कितना

आकाश चाहिये और कितनी मिट्टी, कितना जल चाहिये और कितनी आग तथा कितने फूल चाहिये और कितने पत्थर, यह समस्या केवल बौद्धिक नही रहकर प्रखर रूप से सत्य हो उठी है और वह अनेक रूपो मे मानव-मस्तिष्क को झकझोर रही है। यह सस्कृति के बदलने का समय है, यह परम्पराओ के परिवर्त्तन की वेला है। पुरानी दीवार हिल रही है, पुराने प्राचीर धराशायी हो रहे हैं। क्षितिज के किनारे-किनारे एक लाल डोरी-सी दीख रही है, जिससे मालूम होता है कि आकाश का पुराना छिलका उखड रहा है और नीचे से एक नया-ताजा आकाश बढता हुआ ऊपर जा रहा है। यह आकाश के भीतर से एक नये आकाश के निकलने की सूचना है। ससार मे जो भी कोलाहल है, वह नवीन और पुरातन के संघर्ष की आवाज है। ससार मे जो भी भीषिकाएँ हैं, वे मरणशील युग की मृत्यु के प्रतीक हैं और धरती जिन वेदनाओ से होकर गुजर रही है, वे नये विश्व के जन्म की वेदनाएँ है।

क्या महाकाव्य के लिए इससे भी और उपयुक्त समय चाहिये और क्या प्राचीन एव मध्यकालीन नाटको तथा महाकाव्यो मे हम मानव-चरित्र के भीतर जिस द्वन्द्व एव सघर्ष का प्रतिबिम्ब देखते है, वह आज के व्यक्ति एव समाज मे कुछ कम है? मनुष्य आज जिन शकाओ और द्वन्द्वो से ग्रस्त है, उन्हें अगर वह काव्य के किसी एक ही दर्पण-खण्ड मे देख पाये तो वह स्वय चीत्कार कर उठेगा।

●

कविता का भविष्य

हिन्दी के तीन महाकवियो की प्रतिभा से चमत्कृत होकर कोई एक चौथा कवि बोल उठा,

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करहिं प्रकास ।।

जब मनुष्य कोई बडा आश्चर्य देखता है, तब वह सोचने लगता है कि आश्चर्य की रचना करनेवाली कला का यह चरम चमत्कार है। इससे बडा अब और क्या होगा ? प्रस्तुत दोहे के रचयिता ने भी इसी भाव से अभिभूत होकर यह सूक्ति कही होगी, जिसका लक्ष्य कविता नही, प्रत्युत, कवि की सम्भाव्य असमर्थता की व्यजना है।

फिर उर्दू मे कोई शायर आया और सब कुछ देख-सुनकर उसने घोषणा कर दी—

शायरी मर चुकी जिन्दा नहीं होगी यारो !

किन्तु, कविता के सौभाग्य से रवीन्द्रनाथ और इकबाल, दोनो ही महाकवि, उर्दू के शायर और हिन्दी के इस दोहाकार के बाद जन्मे और अपनी कृतियो से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि कविता की भूमि और भी उर्वर है तथा उसके हृदय से प्रकाश के फव्वारे अभी भी फूट सकते हैं।

यह तो हुई अपने देश की बात, जहाँ वैज्ञानिकता के व्यापक प्रचार के बहुत पहले ही लोगो को कविता के कदम डगमगाते दिखायी पडे। किन्तु, जिन देशो मे वैज्ञानिक सभ्यता ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है, वहाँ के कवि और काव्य-प्रेमी आलोचक तो आज, सचमुच ही, बेचैन है कि कविता की सत्ता कैसे अक्षुण्ण रखी जाय और जनता के भीतर कैसे यह विश्वास जमाया जाय कि कविता का रसास्वादन भी मनुष्य के चौकोर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यक है।

काव्यकला के सामने आज दो प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हैं। एक बाधा तो यह है कि मनुष्य के सस्कार बडे ही वेग से रूपान्तरित हो रहे है और कल्पना-सेवी सम्प्रदाय के लिए इस प्रगति के कदम-से-कदम मिलाकर चलना जरा कठिन हो रहा है। मानव-जीवन के वृत्त मे पडनेवाले विभिन्न उपकरण यानी पेड, पौधे, पर्वत, पशु, नदी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र आदि को कविता अपने भीतर भली भाँति पचा चुकी थी और जीवन के प्रसग मे उनकी बहुविध व्याख्या करने मे उसे कोई खास मशक्कत भी नही होती थी ! किन्तु, अब रेल, मोटरकार, पुतलीघर,

वायुयान अणुबम तथा एलेक्ट्रोन्स और प्रोटोन्स जीवन के वृत्त मे एकबारगी घुस पडे हैं और इन नवागन्तुको ने मिलजुलकर कुछ ऐसा कोलाहल मचा रखा है कि न तो कवि को ही यह सुविधा प्राप्त है कि एकान्त मे बैठकर वह इनके साथ अपना रागात्मक सामजस्य स्थापित करे और न जनता ही उसे फुर्सत मे मिलती है कि कवि उसके साथ बैठकर इस सामजस्य की दिशा निर्धारित करे। सभी दौड रहे है। सभी व्यस्त है। विज्ञान का चक्र जोरो से घूम रहा है और उसके साथ ही मनुष्य की बुद्धि भी चक्कर खा रही है। कवि किसको देखे और किससे बातें करे? वह तो सिर्फ हृदय से बाते कर सकता था मगर, मानव का हृदय भी आज बुद्धि की गुलामी कर रहा है। अखाडा विज्ञान के हाथ मे है और विज्ञान अपने औद्धत्य मे किसी से कुछ बात करने को तैयार नही है। इस स्थिति से आजिज आकर इग्लैड के एक कवि ने कहा कि विज्ञान मे जो गर्जन है, उसे चुराये बिना हमारा काम नही चलेगा। मगर, यह चोरी तो सभी के सामने करनी होगी; क्योकि सारी दुनिया ही आज विज्ञान का पहरेदार बन गई है।

दूसरी बाधा, बहुत कुछ, पहली ही बाधा का स्वाभाविक परिणाम है। जब कविता और जीवन के बीच विज्ञान का कोलाहल और सस्कृति के रूपान्तरित होने का रोर छा गया और इस कोलाहल मे कविता की सत्ता विलीन होने लगी,-तब, स्वभावतः ही कवि के व्यक्तित्व पर भी, इस प्रक्रिया का अनिष्टकारी प्रभाव पडा और लोग सोचने लगे कि जैसे ईश्वर और धर्म पर प्रश्न के बडे-बड़े चिह्न लटक गए है, उसी प्रकार, शायद, कवि का आदर भी जनता के भ्रम के ही कारण था।

कवि ईश्वर और धर्म के बहुत समीप रहा भी था। अतएव, दोनो के साथ वह भी दण्डित किया जा रहा है। जिन लोगो ने ईश्वर और धर्म का बहिष्कार किया, वे कवि का भी बहिष्कार कर देते, किन्तु, उन्हे एक बात सूझ गई कि ईश्वर और धर्म के समान कवि निराकार और बिलकुल अनुपयोगी चीज नही है! उसके रक्त, मास और चेतना भी होती है। अतएव, निर्दिष्ट दिशा की ओर निरत करके उसका थोडा-बहुत उपयोग किया जा सकता है।

किन्तु, जिन लोगो ने ईश्वर और धर्म का बहिष्कार नही किया, सिर्फ श्रद्धा और तिरस्कार के बीच उन्हे त्रिशकु बनाकर डोलने को छोड दिया है, उनके बीच का कवि भी त्रिशकु की तरह ही डोल रहा है।

ससार के बहुसख्यक देशो मे प्राचीन विश्वास की परम्परा हिल गयी है, किन्तु, नया विश्वास अभी अपनी जडें नही जमा सका है। परिणामत, अधिकाश देशो के लोग अभी यह निर्णय ही नही कर पाये है कि ईश्वर, धर्म और कविता से वे कोई काम लेंगे अथवा इन्हें त्याग ही देंगे।

ईश्वर, धर्म और कविता को एक साथ गिनने का कारण यह है कि भिन्नता के होते हुए भी इन तीनो के बीच एक प्रकार की मौलिक समता रही है । कहते है कि कविता का जन्म धर्म की गोद मे हुआ था । किन्तु, इससे अधिक उपयुक्त तो यह कहना होगा कि धर्म का उदय कविता की कुक्षि मे हुआ होगा । कविता विस्मय से उद्भूत हुई और तब उसने मनुष्य मे जिज्ञासा को प्रेरित किया और जिज्ञासा से ईश्वर की कल्पना और धर्म की परम्परा आरम्भ हुई ।

मनुष्य के भीतर जो एक सूक्ष्म आध्यात्मिक व्यक्तित्व है, उसी ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजते हुए कविता का आश्रय लिया और इसी जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए कविता प्रादुर्भूत हुई । मस्तिष्क मे जो गुण है, बुद्धि मे जो चमत्कार है, वे मनुष्य के स्थूल जीवन को सजाते, सँवारते और व्यक्त करते हैं । किन्तु, मनुष्य के भीतरवाला मनुष्य इनकी पकड मे नही आता । उसे पकडने के लिए भावना का जाल और हृदय की जजीर चाहिये । और अनन्तकाल से मनुष्य अपने इस आध्यात्मिक व्यक्तित्व को हृदय की भावनाओ मे अभिव्यक्त करता आया है । अतएव, ईश्वर, धर्म और काव्य—ये तीनो ही मनुष्य के भीतरवाले मनुष्य को प्रसार देते रहे है । तो क्या जिस प्रकार, ईश्वर और धर्म गौण होते जा रहे है, उसी प्रकार कविता को भी गौण होना ही पडेगा ? और अगर किसी दिन मनुष्यो ने मिलकर ईश्वर और धर्म को आखिरी बन्दगी दे दी, तो क्या उस दिन कविता को भी मनुष्य से विदाई ले लेनी पडेगी ?

तो फिर मनुष्य के भीतरवाले मनुष्य का क्या होगा ? क्या उसकी सत्ता है ही नही ? अथवा इतने दिनो से हम जो अपने सूक्ष्म व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के नाम पर विभिन्न ललित कलाओ का आश्रय ले रहे थे, वह कोई रोग था, जिससे मनुष्य मुक्ति पाने जा रहा है ?

नवयुग के नबी और मसीहा ऐसे प्रश्नो का सामना करना नही चाहते, यह और भी दुर्भाग्य की बात है । और इन तमाम असगतियो के बीच कविता जारी है । अगरचे उसके कदम धीरे-धीरे उठते हैं, मगर, जो अटल है, उसके अस्तित्व को उसने स्वीकार कर लिया है तथा विज्ञान के नगर मे वह उसका गर्जन सीखने को आ पहुँची है ।

मगर, समाज के हृदय मे प्रवेश करने की राह उसे नही मिल रही है , अथवा हृदय पर खडी होकर वह मनुष्य के मस्तिष्क को अपने सामने झुकाने मे असमर्थ है । जीवन का जो एक नया महल तैयार हो रहा है, उसमे मनुष्य सभी विद्याओ से सहायता ले रहा है । सिर्फ एक कविता ही है, जिसकी सहायता की उसे कोई जरूरत महसूस नही होती । परिणामत , कविता और कवि, दोनो ही उपेक्षा के पात्र हो रहे है ।

प्रशंसा और प्रोत्साहन—ये कवि-प्रतिभा के आहार है। किन्तु, प्रशसा कौन करे ? और प्रोत्साहन कौन दे ? हिन्दुस्तान मे इन दोनो की प्राप्ति पहले दरबारो से होती थी। किन्तु, बहुत दिन हुए कि दरबार उजड गये और जहाँ पहले राजा और नवाब थे, वहाँ अब जनता आसीन है। और जनता को यह अधिकार तथा गौरव तब मिला, जब विज्ञान ने उसकी भावनाओ मे एक विचित्र प्रकार की हलचल मचा दी। युवराज जब सिंहासन पर आने लगे, तब बीच ही मे किसी ने उनके कानो मे कह दिया कि असल ताकत फौज है। वीणा और सितार से जरा वाजिबी-वाजिबी ही।

हमारे देश मे हमारी स्वामिनी अशिक्षित है, यह बात तो है ही। मगर जो लोग शिक्षित और सुसस्कृत है, उनका क्या हाल है ? बी० बी० सी० के माध्यम से अभिनव अंग्रेजी कविताओ का व्यापक प्रसार करने की चेष्टा आज कई वर्षों से चल रही है। और यहाँ हिन्दुस्तान मे तो कवि-सम्मेलनो और मुशायरो की बहुत बडी माँग है। किन्तु, परिणाम मे हम क्या देखते हैं ? क्या अभिनव कविता का इग्लैण्ड या हिन्दुस्तान मे कोई वास्तविक प्रचार हो रहा है ? तालियो की गड-गडाहट और महज सिर हिलाने को हम कविता के लोकप्रिय होने का प्रमाण नही मान सकते। हम तो यह जानना चाहते है कि समाज मे फैली हुई अन्य विद्याओ से लोग जो प्रेरणा ग्रहण करते है, वह प्रेरणा वे कविता से लेते है या नही ? अखबारवाले अपने मत की पुष्टि मे राजनीतिज्ञो और वैज्ञानिको के अनुभवो का प्रमाण देते हैं किन्तु, कवि की अनुभूति का अवतरण देकर अपने पक्ष की पुष्टि करने की आवश्यकता वे नही समझते। पार्लियामेण्टो और विधायिका सभाओ मे सदस्य जब बोलने लगते हैं, तब उन्हे भी उद्धरणो की आवश्यकता होती है। किन्तु, ये उद्धरण साहित्य के कोष से नही लिये जाते। यहाँ तक कि जो राजनीतिक दल (जिसमे राजनीति के, प्रायः, सभी दल सम्मिलित हैं) साहित्य को ढोल बनाकर अपना प्रचार करते हैं, वे भी जब गम्भीरता से अपने पक्ष की स्थापना करने लगते है, तब उन्हे साहित्यकार की उक्ति और अनुभूति के उद्धरणो की आवश्यकता नही होती।

ऐसी आलोचनाएँ सुनकर समाज का सचालन करनेवाले लोग कुपित होकर कह बैठेंगे कि यदि यह चाहते हो, तो जीवन के सान्निध्य मे आओ। हम फूल-पत्ती और चिडिया-चुनमुन की चर्चा किस लिए करे ?

किन्तु, क्या कवि जीवन से दूर है ? क्या हमारी रचनाओ के भीतर जीवन की आर्द्रता और उसका दाह मौजूद नही है ? क्या हम जो कुछ सोच या लिख रहे हैं, वह समाज के काम की चीज नही है ?

दरअसल, कारण कुछ और है। ससार बडे वेग से उपादेयता की ओर मुडा है और उपादेयता की परिभाषा भी नये स्थूल जीवन से बाँध दी गयी है। आनन्द उपेक्षित हो गया है और सारी प्रमुखता सुखो को दी जा रही है। दो रोटियाँ

मनुष्य की दोनो आँखो के अत्यन्त समीप आकर खडी हो गयी है। इतना समीप कि उनसे आगे मनुष्य कुछ देख ही नही सकता। जो नौकरी दिलवाये, जो व्यवसाय का कारण हो और जो खेतो की उर्वरा शक्ति को तेज करे, आज मनुष्य सिर्फ उसी विद्या की कामना से पीडित हो रहा है। हृदय से हृदय को मापने और मन को मन से थाहने की वृत्ति का लोप हो गया है और आदमी के हाथ मे आज उपयोगितावाद का एक स्थूल गज मौजूद है, जिससे वह शरीर ही नही, बल्कि, आत्मा को भी मापने की कोशिश कर रहा है।

उससे मनुष्य के सूक्ष्म जीवन की चर्चा मत करो, क्योकि सूक्ष्म जीवन तो गज की माप मे आयेगा नही।

उससे यह मत कहो कि रोटियो मे जो मजा है, वैसा ही मजा भाव-चिन्तन मे भी होता है ; क्योकि यह बात उसकी समझ मे नही आयेगी।

उससे यह भी मत कहो कि जिस दुनिया पर सोच-सोचकर राजनीति, अर्थ-शास्त्र और विज्ञान के पण्डित नयी-नयी बातो की ईजाद किया करते हैं, उस दुनिया का एक और पक्ष है, जिसपर चिन्ता करनेवाले लोगो की उक्ति, गीत, कविता, उपन्यास और नाटक कहलाती है, क्योकि तुरन्त ही वह कह उठेगा कि यह तो निरी कविता की बात है।

कविता का एक बुरा अर्थ भी है, जैसा कि एक बुरा अर्थ राजनीति, अर्थ-शास्त्र और विज्ञान का भी हो सकता है। और इन पक्तियो का क्षुद्र लेखक उन लोगो मे से है, जो विषयो के इन बुरे अर्थों से घबराते है तथा जो कच्ची भावुकता से पीडित इस महान् देश को कविता की अवस्था से निकालकर विज्ञान की अवस्था मे पहुँचाना चाहते है। अच्छे अर्थ मे विज्ञान सुस्पष्टता का द्योतक होता है। विज्ञान वह कला है, जिससे मनुष्य हर चीज को प्रमाण के साथ उसके सही रूप मे समझना सीखता है। विज्ञान अतिरजन का विरोधी और भावुकता का शत्रु है। वह मनुष्य को सत्य से दूर जाने देना नही चाहता।

किन्तु, कविता भी अतिरजन और कोरी भावुकता को दुर्गुण मानती है और सत्य से दूर तो वह कभी जाती ही नही।

देखो ये हैं हरी-हरी घासें,
मानो, ये हैं बड़ी-बड़ी गाछें।

यह कविता नही है। कविता है,

रूखी री यह डार वसन वासन्ती लेगी।

कविता कोई हवाई चीज नही है। योगी, वैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्री सत्य की खोज करने के लिए जितनी गहरी समाधि लगाता है, उतनी गहरी समाधि लगाये बिना कवि भी सत्य को नही पा सकता। किन्तु, कवि और वैज्ञानिक के सत्यो मे भेद है। विज्ञान स्थूलता की कला है। वह एक चीज से दूसरी चीज की

दूरी मापता है और हर चीज को अपनी काठ की उँगलियो से छूकर यह बतलाता है कि वह कडी या मुलायम है। किन्तु, कविता वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का मूल्य ढूँढती है, वह उनके उन पक्षो का विश्लेषण करती है, जो गणित की भाषा मे व्यक्त नही किये जा सकते। और चूँकि बुद्धि भी गणित को छोड़कर और भाषा समझ नही सकती, इसलिए, कविता अपने विश्लेषण का परिणाम बुद्धि नही, बल्कि, हृदय के सामने निवेदित करती है, क्योकि हृदय उन संकेतो को समझ सकता है, जिनके माध्यम से कवि अदृश्य और अनिर्वचनीय का वर्णन करता है।

ऐसी अवस्था मे, निरी कविता कहकर जो लोग कविता को आसानी से बर्खास्त कर देना चाहते है, उन्हे यो ही नही छोड़ देना चाहिए। आखिर किस गुण या दुर्गुण के कारण कविता इस अनादर के साथ बर्खास्त कर दी जायगी? कविता का प्रधान गुण उक्ति या वर्णन का सौन्दर्य है। कविता मे शब्दो की लडी सगीतपूर्ण होती है और उसके भीतर एक मोहक चित्र होता है, जो आनन्द के प्रवाह मे मनुष्य के मन को बहा ले जाता है। जो लोग कठोर वस्तुवादी हैं, वे कहते है कि यह आनन्द एक प्रकार की मदिरा है, जो हमे अपने नशे से मतवाला बनाकर हमारा ध्यान जीवन की ठोस घटनाओ और क्रियाओ से अलग ले जाकर हमें कल्पना में निमग्न कर देती है, हमे उस दुनिया मे भटकने को मजबूर करती है, जो सच्ची नही है, जहाँ रोटी कमाने का काम नही चल सकता, जहाँ निन्नानवे को सौ मे परिणत करने का कोई उपाय नही है।

मैं अपने को वस्तुवादी मानता हुआ भी वस्तुवादियो की बहुत-सी झडपे झेल चुका हूँ। किन्तु, आज भी मुझे यह शका ग्रसित किये हुए है कि अगर सौन्दर्य को हम कविता का पहला गुण नही माने, तो फिर उसका और कौन गुण प्रथम स्थान पर रखा जा सकता है? फूल, चाँद, नदी, वन, पर्वत, जलप्रपात, तारे और आकाश—इनका भी पहला गुण सौन्दर्य ही है। हम मानते हैं कि प्रकृति के इन विविध उपकरणो का कोई-न-कोई वैज्ञानिक उपयोग भी है या कालक्रम मे हो सकता है। किन्तु, मनुष्य को वे उपयोगो के कारण प्यारे नही है। प्रिय तो वे सिर्फ इसलिए है चूँकि उनमे सौन्दर्य है। और बच्चो के बारे मे हमारा क्या विचार हो सकता है? क्या माँ-बाप उन्हे इसलिए प्यार करते हैं कि वे बडे होने पर उन्हे कमा कर खिलायेगे? तो फिर जवाहरलालजी दिल्ली भर के बच्चो को बुलाकर अपना समय क्यो बर्बाद करते हैं?

एक लेखक ने अभी हाल मे कविता की तुलना सुन्दरियो से की है। कविता की तरह स्त्रियाँ भी सुन्दर होती है, किन्तु, सुन्दर कविता से परहेज करनेवाले लोग सुन्दर स्त्रियो की उपेक्षा नही करते और न कभी वे यही कहते हैं कि स्त्रियो को सौन्दर्य-परिहार के लिए प्रयत्न करना चाहिये; क्योकि उनकी रूप-मदिरा से समाज के कर्मठ लोग "ठोस घटनाओ" से विमुख हो रहे है। यह ठीक है कि

यदाकदा नारी-सौन्दर्य का प्रभाव वैयक्तिक शैथिल्य अथवा वैराग्य का कारण हुआ है, किन्तु उसे हम नियम नही, अपवाद ही कहेगे। सच तो यह है कि जिस प्रकार, पुरुष और नारी के अगो मे अभिव्यक्त सौन्दर्य सच्चा और मूल्यवान है, उसी प्रकार, पुरुष और नारी के द्वारा विरचित काव्य से फूटनेवाला सौन्दर्य भी सच्चा और मूल्यवान होता है।

मनुष्य हर चीज को इसलिए प्यार नही करता चूँकि वह उपयोगी होती है। चीजे एक साथ ही प्यारी और उपयोगी हो सकती हैं, किन्तु, पहले उपयोग और पीछे प्यार, यह क्रम दुनिया मे नही देखा जाता। फूल देवता पर चढ़ाये जाते हैं और उनसे इत्र और सेंट भी निकाली जाती है। मगर, हम फूलों को सिर्फ इसीलिए नही चाहते; क्योकि वे हमे इत्र और सेंट देते हैं।

एक बात और है कि वस्तुओ का सौन्दर्य-तत्त्व उनके स्थूल उपयोग से एक भिन्न गुण है। बहिन, बेटी, माता, पत्नी, मित्र और समाज की सदस्या के रूप मे स्त्रियो का उपयोग है। किन्तु, इस उपयोग से स्त्रियों के सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है? बेटे तो कुरूप और रूपवती, दोनो ही प्रकार की नारियो के होते हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि नारियो का सौन्दर्य हमारे उपयोग की चीज है और उस सौन्दर्य से हम इसीलिए प्रभावित होते हैं चूँकि वह उपयोगी है?

किन्तु, एक भिन्न दृष्टि से देखने पर सौन्दर्य भी उपयोगी समझा जा सकता है। फूल, नदी, पर्वत, बच्चे, कविता और नारी—सभी के सौन्दर्य में एक अलक्षित प्रभाव है, जो हमारे भीतरी जीवन को पूर्ण करता है। प्रत्येक प्रकार के सौन्दर्य को देखकर हमारे हृदयो मे एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति उत्पन्न होती है, जिससे हमारा जीवन समृद्ध होता है। सुन्दरता का प्रभाव सिर्फ सनसनीवाला हलका आनन्द नही है। प्रत्युत, सौन्दर्य को देखकर हम अपने स्तर से कुछ ऊँचा उठते हैं और हमारे भीतर जो विस्मय की आनन्दमयी अनुभूति जगती है, वह हमें एक अपर लोक मे पहुँचा देती है। इस प्रकार, सौन्दर्य के उपभोग से मनुष्य की आत्मा विस्तृत होती है तथा उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को फैलाव मिलता है।

प्रश्न यह है कि अभिनव मनुष्य उस सूक्ष्म जीवन की सत्ता स्वीकार करता है या नही, जिसे हम आत्मा अथवा आभ्यन्तर व्यक्तित्व कहकर व्यक्त करते हैं। अगर वह इस आन्तरिक व्यक्तित्व को मिथ्या कल्पना मानता है, तो निश्चय ही अन्य सभी चीजो की तरह कविता भी उसकी रोटी का साधन, उपकरण और शृङ्गार बनकर रह जायगी। किन्तु, यह मनुष्य के मानने और नही मानने का सवाल नही है। मनुष्य के भीतर कोई एक और मनुष्य है, जो अभावों में भी सतुष्ट और समृद्धियो के बीच भी भूख से व्याकुल रहता है। उसका आहार रोटी और दाल नही, बल्कि, फूल, नदी, पर्वत, भाव और विचारो का सौन्दर्य है।

जीवन की परिधि मे जो भी उपकरण प्रवेश करते है, उनका एक उपयोग तो स्थूल मनुष्य करता है और दूसरा वह सूक्ष्म मनुष्य, जो स्थूल के भीतर निहित है। कहते है, देवता ग्रास नही, गन्ध के प्रेमी होते हैं। विज्ञान स्थूल मनुष्य का ग्रास है। सूक्ष्म मनुष्य खोज रहा है कि उसकी गन्ध कहाँ है। और सूक्ष्म मनुष्य को समाधान देने के लिए या तो कविता को विज्ञान को आत्मसात् करना होगा अथवा कविता की पकड मे आने के लिए विज्ञान को ही सशोधन स्वीकार करना पडेगा ; क्योंकि सूक्ष्म के अनशन से स्थूल की आयु बढती नही, क्षीण होती है।

नयी कविता के उत्थान की रेखाएँ

एक मित्र ने पूछा, हिन्दी कविता इतनी पतली क्यो हो गयी है ? मैंने उत्तर दिया, विशिष्ट होते-होते। स्थूल और मोटी चीजो को जब हम विशिष्टीकरण की खराद पर चढाते हैं, तब वे कुछ-न-कुछ पतली हो ही जाती है, क्योकि पतलापन चुस्ती का ढाँचा है।

विशिष्टीकरण वर्त्तमान सभ्यता का सार है। आज तो हर मोटी चीज अपने को पतली बनाने के क्रम मे है। केवल कविता ही नही, गृहनिर्माण, पोशाक और साज-सज्जा मे एक प्रकार की सूक्ष्मता, एक तरह के पतलेपन या चुस्ती की माँग है। यह ठीक है कि इस सभ्यता के साथ बहुत-सी अनावश्यक आवश्यकताएँ भी लिपटी हुई हैं, किन्तु, वे, मुख्यतः, औद्योगिकता की देन है। जहाँ तक मूल प्रवृत्ति का प्रश्न है, हम उन सामग्रियो को छोड देने के पक्ष मे होते जा रहे हैं, जिनके बिना हमारा काम चल सकता है। औरतो ने भारी-भारी गहने छोड दिये, मर्दो ने पगडी चोगा और फेटा छोड दिया और शस्त्रीकरण की प्रक्रिया मे अब तोपो और टैंको को छोटे-छोटे बम नीचा दिखा रहे हैं। प्राचीन काल के जडाऊ वस्त्रो को देखकर मन मे श्रद्धा तो आज भी होती है। किन्तु, उन्हे पहनकर निकलने की हिम्मत अब विरले ही लोगो मे रह गयी है। यहाँ तक कि अब राजे-महाराजे भी भारी-भरकम पोशाको की अपेक्षा सीधी-सादी, हल्की पोशाक पहनने मे ही सुविधा और सम्मान देखते हैं। एक बुश शर्ट को ही देखिये। जिस तेजी से इसका प्रचार सभी श्रेणियो के लोगो मे बढ रहा है, उससे यह साफ जाहिर होता है कि वर्त्तमान सभ्यता हल्केपन और चुस्ती को सबसे अधिक अक देने के पक्ष मे है।

जो अनावश्यक है, उसकी उपेक्षा और त्याग तथा जो-कुछ अनिवार्य है, उसका अधिकाधिक विकास, विशिष्टीकरण के ये दो सामान्य लक्षण हैं। सड़को की विशेषता उनकी समतलता और चिकनाई है। अतएव, इन दोनो का हम अधिकाधिक विकास कर रहे हैं। मकानो की विशेषता उनका हवादार होना और आराम की सुविधा है। अतएव, सबसे अधिक ख्याल हम उन्ही का करते हैं। और भोजन की विशेषता उसकी पौष्टिकता है। इसलिए, विटामिनो पर आज सबसे ज्यादा जोर है। 'छिलके नही, बीज' यह विशिष्टीकरण का मुख्य नारा माना जा सकता है।

काव्य के क्षेत्र मे भी वही हुआ, जो जीवन के अन्य क्षेत्रो मे हो रहा है। एक तरह से देखिये, तो नयी कविता का जन्म ही इस कारण हुआ कि लोग स्थूलता को छोडकर बारीकी की ओर जाना चाहते थे। अलकार, भाषा और छद—सभी काव्य के उपकरण माने जाते हैं। मगर उनके सयोग से कविता की केवल मूर्त्ति ही

तैयार होती है, जान तो उसमे कवि की आत्मा, उसकी अनुभूति की सचाई और मनोदशा की उस विह्वलता से आती है, जो कवि को अकवि से भिन्न करनेवाला प्रधान गुण है। कविता के भीतर जो एक अनिर्वचनीय विलक्षणता है, वही कविता की असली जान होती है और उसी के ससर्ग मे आने से भाषा, छन्द और अलकार सजीव हो उठते है। यह विलक्षणता प्राचीन कविता मे भी थी। किन्तु, तब उसके चारो ओर और भी अनेक सामग्रियाँ अपने को प्रधान मानकर जुड़ी रहती थी। कालक्रम मे कविता ने सोचा, वह उसी तत्त्व को लेकर जियेगी, जो उसकी जान है। बाकी सामान न भी रहे या कुछ कम भी हो जायँ, तो कोई मुजायका नही। शरीर मे आत्मा ही प्रधान है। और आज तो शरीर की मोटाई अवगुण ही मानी जा रही है। तभी तो लोग भोजन मे नियन्त्रण करके अथवा व्यायाम के द्वारा अपने बदन को हल्का, पतला, चुस्त और फुर्तीला बनाना चाहते है। जिसे हम आधुनिक कविता कहते हैं, वह भी ठीक, इसी तरह पतली, चुस्त और फुर्तीली होने की कोशिश मे है। और जिस प्रकार, वर्त्तमान युग, जीवन मे विषमता की सत्ता को नही मानना चाहता, खान-पान और कपडे-लत्ते मे एक प्रकार की समानता लाना चाहता है; उसी प्रकार नयी कविता भी सामान्य उपयोग मे आनेवाली भाषा को अपनी भाषा बनाना चाहती है। जमाना नही चाहता कि श्रोता एक भाषा बोले और कवि एक दूसरी भाषा मे बात करे। अगर कविता की रूह अलंकार और काव्यात्मक भाषा से भिन्न वस्तु है, तो कवि को उनके ऊपर अपना दारोमदार नही रख के, रोज की बोली मे अपनी मनोदशा का चित्र उपस्थित करना होगा। ऐसा नही चल सकता कि काव्यात्मक भाषा के प्रयोग के द्वारा कवि का अपना परिश्रम तो घट जाय और पाठक को चित्र तक पहुँचने के लिए आवरण तोड़ने को परिश्रम करना पडे। कविता की भाषा भी बोलचाल की सामान्य भाषा हो, इस आन्दोलन का आरम्भ अग्रेजी मे वर्डस्वर्थ ने किया था और हिन्दी मे कदाचित् स्वय भारतेन्दु ने। किन्तु, अबतक के प्रयोगो से काम पूरा नही हुआ। कविता बार-बार अपने लिए विशिष्ट भाषा उत्पन्न कर लेती है, फिर भी प्रयास जारी हैं कि कवि की भाषा सामान्य मनुष्य की भाषा से भिन्न नही हो।

तुलना और विश्लेषण करने से यह भी पता चलता है कि नयी कविता प्राचीन काव्य से इसलिए भी भिन्न है कि उसमे आनेवाली तस्वीरे कारण-कार्य के नियमो की अधीनता को नही मानकर, अक्सर, भावो की सगतियो और ससर्गों तथा विचारो की समता से ही उत्पन्न हो जाती है, कि जो-कुछ परम्परा से काव्यात्मक माना जाता है, उसकी उपेक्षा करके नयी कविता उसे भी काव्यात्मक मानती है, जो उपेक्षित रहा है अथवा जो सामान्य और साधारण है। वह उदात्त नायक और महापुरुषो को छोड़कर बहुधा जनसाधारण को भी अपना नायक चुन लेती है। छन्दोबन्ध और अनुप्रासो की झडी को वह अपना अनिवार्य गुण नही मानती। वह

वस्तुओ के तद्गत रूप का वर्णन नही करके, उनके आत्मगत रूप का वर्णन करती है, यानी वह इसे नही देखती कि फूल स्वय कैसा है, बल्कि वह यह दिखलाना चाहती है कि फूल देखनेवाले को कैसा लग रहा है तथा उसे देखने से उसमे किन-किन भावो की स्फुरणा होती है। वह अरूप का रूप और रूप का अरूप विधान करती है तथा अपने समय की शीतलता और उष्णता का चित्रण करने के लिए अपने अनुरूप नवीन भाषा, नये छन्द और दूसरी अनेक नयी शैलियो को जन्म देती है।

मगर, इनमे से अधिकाश गुण तो सभी अच्छी कविताओ मे पाये जाते है। इसीलिए, मनोदशा की सचाई को लेकर सभी उत्तम कविताओ मे एक प्रकार की समानता देखी जाती है, क्योकि सभी कवि एक ऐसी चेतना के वाहक होते है, जो काव्य की भूमि से अलग काम करनेवालो मे नही होती। यह वही चेतना है, जिसे देखकर लोग अक्सर ही, कह उठते हैं कि यह तो कविता हो गयी अथवा यह तो कवि के समान हो गया। कविता का जो मौलिक गुण है, उसे लेकर कितने ही प्राचीन कवि भी नवीन कवियो के समीप पड जाते है। तुलसी, सूर, विद्यापति, घनानन्द, मीरा और कबीर-जैसे कवियो मे हमे ऐसी पक्तियाँ मिलती ही रहती हैं, जिन्हें देखकर हम सोचने लगते है कि ये तो बहुत-कुछ नवीन कविताओ के ही समान हैं। और, सच ही, ये पक्तियाँ आनेवाली कविता की पूर्व कल्पना-सी लगती हैं।

जहँ बिलोकु मृगशावक नैनी, जनु तहँ बरसु कमलसित सैनी।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबिगृह दीप-शिखा जनु बरई।

अथवा

सब जग जलता देखिये, अपनी-अपनी आगि,
ऐसा कोई ना मिला जासो रहिये लागि।

तुलसीदासजी की पहली अर्द्धाली मे सीताजी की आँखो का वर्णन नही, बल्कि, इस बात का वर्णन है कि उन आँखो से निकलनेवाली ज्योति कितनी कोमल लगती है। और दूसरी अर्द्धाली मे भी अवयवो का चित्रण नही, बल्कि, अनिर्वचनीय प्रभाव का वर्णन है, जो सभी अवयवो के सम्मिलित योग से फूटनेवाले सौदर्य से उत्पन्न होता है।

और कबीर का यह दोहा भी उस समय के साहित्य के लिए एक नया स्वर मालूम होता है, क्योकि, इसमे ससार की वेदना प्रधान नही है, बल्कि, असर यहाँ कवि की उस आत्मगत विह्वलता का है, जो विश्ववेदना को देखकर उसके अपने हृदय मे उत्पन्न हुई है।

किन्तु, नयी कविता का जन्म कब हुआ ? क्या पन्त और निराला की रचनाओ मे ? अथवा प्रसादजी की उन कविताओ मे, जो 'प्रेम पथिक', 'चित्राधार'

और 'झरना' मे सगृहीत है ? या उससे पहले माखनलालजी की इन पंक्तियो मे, जिनकी रचना वर्त्तमान शताब्दी के पहले दशक के अन्त और दूसरे के आरम्भ मे हुई थी ?

मुझ से कह छल छन्द बने जो शान दिखानेवाले,
मै तो समझूँगा बाहर क्या ? भीतर भी हो काले । [१६०८]
मार पाँच बटमार साँवले, रह तू पंचवटी में,
छिने प्राण-प्रतिमा तेरी भी काली पर्णकुटी में । [१६११]
कुटिल कटाक्ष कुसुम-सम होगे, यह प्रहार गौरव होगा,
पद-पद्मो से दूर स्वर्ग भी जीवन का गौरव होगा । [१६१४]

मगर इतना ही नही, हमे और भी पीछे जाना होगा । सन् १८७७ के लगभग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने कितनी ही ऐसी कविताएँ लिखी थी, जिनमे आनेवाली कविता की नन्ही किरणे जहाँ-तहाँ प्रक्षिप्त मिलती हैं । भारतेन्दु हिन्दी के गद्य ही नही, उसकी नयी कविता के भी जनक सिद्ध किये जा सकते हैं । यह सिर्फ इसलिए ही नही कि खडी बोली मे काव्य रचने का सचेष्ट प्रयोग उन्ही ने आरम्भ किया और कविता के हृदय मे समकालीनता के प्रति जो एक झिझक थी, उसे दूर करने की कोशिश की , बल्कि इसलिए भी कि उनकी सम्पूर्ण दृष्टि नवीन थी तथा उनकी चेतन और मनोदशा मे नवयुग की रश्मियाँ स्पष्ट रूप से जगमगा रही थी । जब समाज मे नयी चेतना आती है, जब उसकी अनुभूति की दिशा मे परिवर्त्तन होता हैं, जब मनुष्य मे नये विकार उत्पन्न होते हैं और वह जीवन को पहले की अपेक्षा किसी भिन्न दृष्टिकोण से देखना चाहता है, तब साहित्य मे क्रान्ति होती हे और उसकी शैलियाँ परिवर्तित होने लगती हैं । कभी तो मूल्यो मे परिवर्त्तन होने पर साहित्य की निद्रा टूटती है और वह नये मूल्यो की स्थापना की ओर अग्रसर होता है और कभी साहित्य ही जीवन में मूल्य-परिवर्त्तन का कारण बन जाता है । हिन्दी मे मूल्य-परिवर्त्तन की प्रक्रिया पहले आरम्भ हुई और साहित्य उसके पीछे सँभला ।

हमारे यहाँ छायावाद के नाम से जो आन्दोलन आया था, उसकी बीसो प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं और, प्राय , अधिकांश कविताएँ "सान्त" और "अनन्त" के इर्दगिर्द चक्कर काटती रहती हैं । किन्तु, ऐसी व्याख्याओ से समस्या का निदान नही होता । असल सवाल यह नही है कि छायावाद-कालीन रचनाओ मे वह घुँधला-जैसा कौन-सा तत्त्व था, जो लोगो को रहस्यवाद-सा दीख पडा, प्रत्युत, समीचीन प्रश्न तो यही हो सकता है कि क्या कारण था कि हिन्दी के कवि परम्परा से दूर हटकर एक नये स्वर मे बोलने लगे ।

तो भी माखनलाल, प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी का स्वर आकस्मिक नही था , क्योकि उसका यत्किंचित् आभास भारतेन्दु बाबू की रचनाओ मे पहले

ही मिल चुका था। सच पूछिये तो, अंग्रेजी भाषा और साहित्य तथा यूरोपीय सभ्यता और विज्ञान के संसर्ग से भारतीय जीवन मे जो एक नयी चेतना उत्पन्न हुई थी, हिन्दी मे उसकी अनुभूति सबसे पहले भारतेन्दुजी को हुई। और इसका कारण भी था। भारतेन्दु बाबू केवल सस्कृत और फारसी के ही नही, बल्कि, अग्रेजी, बँगला और मराठी के भी विद्वान् थे, जिन भाषाओं का सहित्य यूरोपीय साहित्य से प्रभाव ग्रहण करके नया रूप धारण कर रहा था। इसके सिवा, देश के तत्कालीन कितने ही सुधारक और विद्वान् उनके अपने मित्रो मे से थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि वे केवल विद्यारसिक ही नही थे, प्रत्युत, अपनी समस्त विद्या-बुद्धि और आन्तरिक जागरण के द्वारा वे समाज के रूप को प्रभावित करना चाहते थे। सस्कार मे रस पहुँचानेवाली उनकी शिराएँ केवल प्राचीनता के गह्वर से ही लगी हुई नही थी, बल्कि, उनमे से अनेक का लगाव नवीनता के अनन्त उत्सों से भी था और वे नये फूलो का भरपूर रस ले चुके थे। यही कारण है कि परम्परा से आनेवाली सामग्रियो के ढेर मे बैठे रहने पर भी वे भविष्य की ओर इगित करते है। उनके एक ओर पद्माकर, द्विजदेव और पजनेस है तथा उनकी दूसरी ओर द्विवेदी, मैथिलीशरण, शकर और पूर्ण की गोष्ठी पड़ती है। इन दो गोष्ठियो के बीच बैठे रहने पर भी उनका कगूरा सबसे ऊपर दिखाई देता है और ऐसा लगता है कि इस कगूरे की पगडी सिर्फ उसी चोटी से बाँधी जा सकती है, जिसे माखनलाल, प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने खड़ा किया है। प्राचीनता के भार से लदी हुई ब्रजभाषा मे लिखते हुए भी उनका स्वर अपने पूर्वजो के स्वर से भिन्न था। इतना ही नही, बल्कि, कही-कही तो ऐसा मालूम होता है, मानो, आनेवाले युग की कविता के अकुर उनकी रचनाओ के भीतर से झांक रहे हो।

> स्रवनन पूरो होई मधुर सुर अंजन ह्वै दोउ नैन।
>
> ....
>
> बैन हूँ अथान लागे, नैन कुम्हिलान लागे,
> प्राननाथ आओ अब प्रान लागे मुरझान।
>
> .
>
> देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तोहि यातें,
> जौन जौन लोक जैहै तहीं पछितायेंगी।
> बिना प्रानप्यारे भये दरस तिहारे हाय,
> देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायंगी।

ये पक्तियाँ किसी भी प्रकार पद्माकर या द्विजदेव अथवा उनसे पूर्व के रीति-कवियो की रचनाओ मे नही खप सकती। तीनो उद्धरणो मे कवि की जो वैयक्तिक

विह्वलता व्यजित होती है, वह और किसी की भी अपेक्षा छायावादकालीन कवियो से समीपता रखती है और, निश्चय ही, इनमें हम उस कविता की पूर्व कल्पना पाते है, जो बहुत आगे चलकर निखरनेवाली थी।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इन पक्तियो की भाषा मे न तो बहुत तोड-मरोड है और न वह जटिलता, जिसे भारतेन्दु के पूर्वज कवियो ने पैदा किया था और जो उनकी कविताओ का एक खास अवगुण बन गयी थी। भाषा तो उनकी भी ब्रजभाषा ही है, किन्तु कविता पर उसका तनिक भी रोब नही है। ऐसा लगता है कि भाषा की परम्परा-पूजित काव्यात्मकता का तिरस्कार करके कवि सीधी-सादी बोली मे अपनी व्यथा दूसरो तक पहुँचाने को बेचैन है। अनुभूति की विह्वलता काव्य की असली प्रेरणा होती है। यहाँ हम सिर्फ उसी का चमत्कार देखते है। यह गुण तो हम भारतेन्दु की, प्रायः, सभी कविताओ में देखते है और यह देखकर हमे आश्चर्य भी होता है कि पजनेस तक आते-आते जब ब्रजभाषा इतनी जटिल और दुर्बोध हो गयी थी, तब, भारतेन्दु के हाथ मे आते ही वह फिर से सरल कैसे हो गयी। इसका एक प्रबल कारण उनकी समर्थता रही होगी। किन्तु, वैसा ही दूसरा प्रबल कारण यह भी था कि भारतेन्दु सच्चे मानी मे नये मूल्यो के निर्माता थे और एक सच्चे आधुनिक कवि की भाँति वे अपनी अनुभूति, वेदना और विश्वास को ही अपनी सबसे बड़ी पूँजी मानते थे, उसे सहारा देनेवाले टेढे-मेढे उपकरणो को नही। कविता हृदय की चीज है और उसे वे अपने हृदय से निकालकर दूसरो के हृदय मे ही उँडेलना चाहते थे, उनकी आँखो या कानो मे नही। मेरा विचार है कि हिन्दी-कविता के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया की नीव, इस प्रकार, भारतेन्दु ने ही डाली। भारतेन्दु ने कहा था,

भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय

अगर वर्त्तमान व्याख्या के प्रसंग मे हम इस टुकडे के अर्थ की व्याप्तियो पर विचार करे, तो सम्भव है कि इसका एक अभिप्राय यह भी निकले कि कविता जिस गुण के कारण कविता कहलाती है, वह भाषा अथवा शैली की सजावट के अधीन नही है। महाकवि अकबर का भी एक शेर है, जो इसी से मिलता-जुलता अर्थ देता है :—

मानी को छोड़कर जो हो नाजुक बयानियाँ,
वह शेर नही, रंग है लफ्जो के खून का।

मगर, भारतेन्दु बाबू ने जो प्रयोग किया, उसे उठाकर आगे ले चलनेवाले लोग ठीक उनके बाद नही आये। ऐसा लगता है, मानो, उनके गोलोकवास के बाद उनके उत्तराधिकारियो ने यह समझ लिया हो कि भारतेन्दु उनसे खडी बोली मे देशभक्ति का राग अलापने को कह गये हो। इस उत्तराधिकार का निर्वाह बड़ी

ही भयंकरता से किया गया। सन् १८८५ [भारतेन्दु के निधन का वर्ष] से लेकर सन् १९१५ या २० तक हिन्दी-कविता मे खडी बोली का प्रयोग तो बडे ही उत्साह और अध्यवसाय से किया जाता रहा। किन्तु, भावपक्ष मे इस काल की कविता, प्राय', रसहीन हो गयी। कहते हैं, स्वामी दयानन्द के पवित्रतावादी आन्दोलन के चलते इस काल की कविता मे सौन्दर्य का आलोक नही रहा। तव भी नवीन कविता के हम सभी प्रेमी इस काल के कवियो के ऋणी है, क्योकि ३० वर्षो तक उन्ही के जोतते रहने से खडी बोली की भूमि इतनी चिकनी और नम हो सकी, जिसमे से छायावादकालीन कविता के द्रुम लहलहा उठे। खडी बोली को काव्य-भाषा के रूप मे विकसित करने का कार्य भी नवीनता के ही सदेशो की स्वीकृति थी और समसामयिक जीवन को काव्य मे अधिष्ठित करके भी ये कवि कविता की भाव-भूमि को ही विस्तृत वना रहे थे। इस दृष्टि से वे सब-के-सब क्रान्तिकारी माने जा सकते है। क्योकि उन्होने इस परम्परा को तो तोड ही डाला कि कविता सिर्फ ब्रजभाषा मे हो सकती है। उन्होने जिस दूसरी रूढि का खण्डन किया, वह यह भावना थी कि धर्म, स्त्री, प्रेम, विरह, पावस, वसन्त, राजा और युद्ध के सिवा और कोई भी वस्तु या व्यक्ति कविता का विषय नही हो सकता है।

इन दो कारणो से, भारतेन्दु और छायावाद, इन दो युगो के बीच पडनेवाले कवि भी क्रान्तिकारी थे और उन्होने जो-कुछ भी लिखा, उससे आगे आनेवाली कविता के लिए भूमि तैयार हुई। केवल माखनलाल और प्रसाद की ही पंक्तियाँ नही, बल्कि, १९१२ या १३ मे स्वर्गीय लक्ष्मणसिंह 'मयक' द्वारा पत्नी-वियोग पर लिखा गया यह पद भी बतलाता है कि नई कविता के जो बीज भारतेन्दु ने मिट्टी मे गिराये थे, वे भली-भाँति सिक्त होकर अब अकुरित हो रहे थे।

> गंगा माँ के वक्षस्थल पर, उस दिन शीतल निर्मल जल पर,
> देखी थी तव स्वर्गीय छटा, फिर सघन घनो की घोर घटा।
> गूँजा था स्वर झंकार नया, दीखा था सब संसार नया,
> मानस को उथल-पुथल करके, गंगाजल को उज्ज्वल करके,
> तू किधर गयी ? उड्डीन हुई ? हा, किस दिगन्त मे लीन हुई ?*

---

*इस लेख के प्रकाशित होने के वाद लेखक को अत्यन्त प्रामाणिक रूप से ज्ञात हुआ है कि इस कविता के सस्कार मे राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी का भी हाथ था। असल मे, छायावाद के आविर्भाव के पूर्व हिन्दी-कविता मे नवीनता की जो आभा झलकने लगी थी उसके वहुत-से उदाहरण मैथिलीशरण जी की "झकार" प्रसाद जी की "चित्राधार" और "प्रेमपथिक" और माखनलालजी की "हिमतरगिनी" नामक पुस्तको मे तथा प० रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाडेय एव वदरीनाथ भट्ट की स्फुट कविताओ मे ढूँढे जा सकते है।—लेखक

फिर भी आश्चर्य होता है कि नयी चेतना के जो रूप माखनलाल, प्रसाद और मयंक की इन पंक्तियो मे मिलते हैं, वे तत्कालीन अन्य कवियो मे क्यो नही मिलते। इन तीन कवियो को हम छायावाद की आरम्भिक कड़ी कह सकते हैं, क्योंकि नवयुग की चेतना पहले इन्ही की प्रतिभा पर चढकर हिन्दी-काव्य मे पहुँची।

वैसे छायावाद का आविर्भाव हिन्दी मे सन् १६२० ई० से माना जाता है; जिस वर्ष को हम, शायद, असहयोग-आन्दोलन के कारण अधिक प्रमुखता देते हैं।

छायावाद-आन्दोलन पर हिन्दी मे काफी लिखा गया है और मैं भी अपनी "मिट्टी की ओर" नामक पुस्तक मे उसपर अपना विचार प्रकट कर चुका हूँ। अब हम यह, प्रायः, मानने लगे है कि हमारे साहित्य मे यह उसी प्रकार का आन्दोलन था, जिस प्रकार का आन्दोलन अठारहवी सदी के अन्त मे अंग्रेजी साहित्य मे आया था तथा इसके पीछे केवल रवीन्द्र ही नही, बल्कि, अंग्रेजी के रोमांटिक कवियो के स्वर भी विद्यमान थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि हिन्दी मे जब छायावादी आन्दोलन जारी था, तब उसके कवि अपने समर्थन में घनानन्द, मीरा और कबीर की वैयक्तिक अनुभूतियो का भी उद्धरण देते थे। किन्तु, उस समय किसी भी दिशा से यह आवाज नही आयी कि जिसे तुम छाया-वाद कह रहे हो वह और कुछ नही होकर राष्ट्र की एक नयी मुद्रा की अभिव्यक्ति का प्रयास है—वह मुद्रा जो अंग्रेजी साहित्य और यूरोपीय सभ्यता तथा विज्ञान के सेवन से उत्पन्न हुई है और जो अपनी पूर्ण अभिव्यंजना के अनुरूप विशिष्ट शैलियों का माध्यम खोज रही है!

छायावाद के विपक्ष मे भी मतो का अभाव नही है और न मैं ही उसकी सभी बातों का समर्थक हूँ। सबसे बुरी बात तो मुझे यह लगती है कि छायावाद अत्यन्त सुकुमार था और अजब नही कि तितलियो के दंश से भी उसे पीडा होने लगती रही हो। किन्तु, छायावादी कवियो का साहित्य के इतिहास मे चाहे जो भी स्थान बननेवाला हो, एक बात है कि वे हर बात को बड़ी ही नजाकत से कहना चाहते थे और समकालीन अवस्थाओ की गर्मी को भूलकर वे काल्पनिक शीतलता के देश मे बड़ी ही निश्चिन्तता से विचरण कर सकते थे।

इस आन्दोलन के अन्दर जो कुछ भी सुन्दर और सारवान था, वह, मुख्यतः, हिन्दी के चार कवियो मे विभक्त हुआ। उसकी दार्शनिकता प्रसादजी के हाथ लगी तथा उसका पौरुष निरालाजी को मिला। इसके विपरीत, पतजी ने उसकी प्रभाती अरुणिमा, गन्ध और ओस को ग्रहण किया एवं आदरणीया महादेवी जी के बाँटे उसकी धूमिलता आयी, जिससे उनकी आध्यात्मिक विरह की कल्पना और भी गम्भीर हो गयी है। हिन्दी मे गीत की परम्परा भी छायावादकाल मे ही सुदृढ हुई, यद्यपि ये गीत उन पक्षियो के कण्ठ से फूटे थे, जिनके चारो ओर तूफान चल रहे थे अथवा जिनके आस-पास गुजरे हुए तूफानो की छाया मौजूद थी। लेकिन, तूफान मे गाये जायें या तूफानो की छाया मे, गीत फिर भी गीत ही होते है।

जब दो सभ्यताएँ परस्पर मिलती या टकराती हैं, तब उनसे, प्राय:, कोई नई चीज पैदा होती है। इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन से पाठानो के समय मे हिन्दी-साहित्य में एक नवीनता उत्पन्न हुई थी, जिसे हम कबीर और दूसरे सन्त अथवा सूफी कवियों की रचनाओ मे देखते हैं। इसी प्रकार, यूरोपीय साहित्य और भारतीय संस्कार के सम्पर्क से एक नई चेतना उत्पन्न हुई, जो अपनी सम्यक् अभिव्यक्ति प्राचीन कवियो के द्वारा निर्मित शैली मे नही कर सकती थी। वैज्ञानिक चिन्तन की प्रक्रिया को ग्रहण कर लेने के बाद हम अपनी परम्परागत अनुभूतियो और विश्वासो मे से अनेक को शंका की दृष्टि से देखने लगे और इस प्रकार, जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद की वह लक्ष्मण-रेखा विलीन होने लगी, जो हमारे चिन्ता-जगत को चारो ओर से घेरे हुए थी और जिसका अतिक्रमण हमारे यहाँ नास्तिकता का पाप समझा जाता था। किन्तु इस रेखा के विलीन होते ही भारतीय मनीषियो की युगो की वन्दिनी और सूखी जिज्ञासा मनचाही दिशाओ मे उड़-उड़कर नयी सनसनाहट और नवीन चेतना का सुख अनुभव करने लगी। छायावादकालीन कविता में जितने भी नये प्रयोग नजर आते हैं, वे सब इसी सनसनाहट और सुगबुगाहट को व्यक्त करने के प्रयास थे।

बारह-पन्द्रह वर्ष बीतते-बीतते लोगो ने सुना कि हिन्दी-कविता मे एक और आन्दोलन आया है। इस दूसरे आन्दोलन को हम प्रगतिवाद के नाम से अभिहित करते हैं, जो आज भी समग्र विश्व-साहित्य में अपना झंडा उडाये चल रहा है। कुछ दिनो तक तो ऐसा लगा, मानो, प्रगतिवाद के भीतर से राजनीति साहित्य पर चढी आ रही हो। किन्तु यह उफान अब दब गया है और लोग मानने लग गये हैं कि प्रगतिवाद राजनीति नहीं, वरन्, साहित्य मे ही एक विशिष्ट प्रकार की नवीनता का द्योतक है, जिसका समाज की प्रगतिशील प्रवृत्तियो से पूरा सामंजस्य है।

किन्तु, भारतेन्दु ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, वह अभी भी पूरा नही हुआ है। नयी कविता इसलिए चली थी कि वह जनता की भाषा में बोले और अनावश्यक सामग्रियो को छोडकर वह कवि की चेतना को आसानी से पाठको तक पहुँचा दे। सभी तरह की अनुभूतियो को सरल भाषा मे आसानी से जनता तक पहुँचा देना यह नयी कविता का लक्ष्य था और इसी दलील का सहारा उन लोगो ने भी लिया, जो कवियो को यह उपदेश देते थे कि तुम्हे जनता के लिए साहित्य लिखना चाहिये। इस आन्दोलन से एक लाभ यह हुआ कि कविता के भीतर अद्यतनता की स्थापना दोष नहीं रह गयी। किन्तु, समाज के प्रति उठा हुआ विद्रोह इतनी प्रबलता से आया कि कविता के रूप मे की जानेवाली क्रांति पीछे पड गयी और आज तो भीड़ से अलग रहने की भावना और एक प्रकार की घरेलू भाषा के मोह से वे भी ग्रसित हैं; जिनके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि वे जनता के लिए लिखते हैं।

एवोल्यूशन या विकास की दृष्टि से देखने पर हिन्दी की आधुनिक कविता चार सीढियाँ पार कर चुकी है। आदि सोपान तो भारतेन्दु ने ही निर्मित किया, जबकि खडी बोली पहले पहल प्रयोग मे आयी, ब्रजभाषा को अपनी जटिलता का त्याग करना पडा, समकालीनता काव्य के भीतर झाँकने लगी और कवि की वैयक्तिकता ने अपने अधिकारो की माँग की। दूसरा सोपान उन लोगो की रचना है, जिन्होने खडी बोली को निश्चित रूप से काव्य की भाषा बना दिया और कविता के प्राचीन विषयो की उपेक्षा करके उसे नवीन विषयो की ओर प्रेरित किया, भले ही ये नवीन विषय शुष्क और नीरस रहे हो। तीसरा सोपान उन महाकवियो की देन हैं, जो कविता को लेकर उस स्वप्न-महल मे चले गये, जिसे अंग्रेजी मे "आइवरी टावर" कहते हैं। इतिवृत्तात्मकता के दिनो मे हिन्दी-कविता जितनी ही सादी और स्थूल थी, आइवरी टावर मे पहुँचकर वह उतनी ही सूक्ष्म और रगीन हो गयी और लोगो ने कहना शुरू किया कि कविता इतनी ऊँचाई पर जा पहुँची है कि हमे वह दिखायी भी नही पडती।

अतएव, प्रगतिवाद ने जो सोपान बनाया, वह एक तरह से उतार का सोपान था। कामायनी, यामा और तुलसीदास की रचना करके हिन्दी-कविता निश्चित रूप से आइवरी टावर से नीचे उतर आयी है। यह उन लोगो के लिए दुख का विषय है जो आइवरी टावर मे विश्वास करनेवाले हैं। किन्तु, जो लोग कविता की अपार्थिवता मे विश्वास नही करते, वे इस उतार को भी आधुनिक कविता की प्रगति का ही सोपान मानते हैं।

कविता को हम मिट्टी पर नही घसीटना चाहते और न यही चाहते है कि वह नीचे रहे। किन्तु, उसे बराबर हमारे जीवन के बीच से उठकर ऊपर जाना चाहिये। यह फूलो, पादपो और पर्वतो का धर्म है। इससे विपरीत धर्म, किरणो और नदियो का होता है जो ऊपर से जन्म लेकर नीचे आती हैं। और जीवन किरणो तथा नदियो के बिना भी नही चल सकता। इन दोनो वर्गों की चीजें जीवन से मिली होती हैं। पर्वत का मूल जीवन के कन्धे पर होता है और किरणों की उँगलियाँ आकाश से उतर कर मनुष्य के शरीर पर भ्रमण करती हैं। मगर, साहित्य मे इस मिलन का क्षेत्र कहाँ हो सकता है? क्या भावो और विचारो मे? अथवा भाषा और छन्द मे? उत्तर किसी एक के पक्ष मे नही दिया जा सकता। नयी कविता विशिष्टीकरण को लक्ष्य मानकर चली थी। विशिष्टीकरण यानी चुस्ती। विशिष्टीकरण यानी अच्छा लगनेवाला हलकापन। विशिष्टीकरण यानी गहन से गहन मुद्राओ को भी सरल से सरल ढग से लोगो तक पहुँचा देना। सादगी और प्रभावपूर्णता, इन्ही के सतुलित योग से नयी कविता अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है।

पाकिस्तान के पीछे साहित्य की प्रेरणा

आम तौर से कहा जाता है कि हिन्दुस्तान के बँटवारे की फिलासफी सर इकबाल की देन है। यह इसलिए नही कि सर्वप्रथम उन्होने ही मुस्लिमलीग के एक वार्षिक अधिवेशन के सभापति की हैसियत से, दबी जबान मे, इस बँटवारे की बात चलायी थी, बल्कि इसलिए कि मुसलमानो मे कुछ दिनो से चली आती हुई एक अस्पष्ट मनोवैज्ञानिक धारा को उन्होने सुस्पष्ट बना दिया तथा उसे दर्शन की भूमि पर लाकर भिन्नता की ओर मोड दिया। इकबाल के समय से कुछ पहले से ही भारत के मुसलमान, कुछ-कुछ अज्ञात रूप से, अपनी सम्प्रदायगत इकाई को प्रधानता देते आ रहे थे, किन्तु अपनी नयी भावदशा को वे तब तक स्पष्टता के साथ नही जान पाये थे। इसके सिवा, हिन्दुओ के साथ बहुत दिनो तक दूध-पानी की तरह मिले रहने के कारण उनमे जो एक सामाजिक उदारता और पारस्परिक बन्धुत्व का सस्कार आ गया था, उसे देखते हुए वे हिन्दुओ से भिन्न अपनी इकाई की घोषणा करते हुए शरमाते भी थे। एकता का यह सस्कार हिन्दुओ और मुसलमानो के लगभग छह सौ वर्षो के सम्मिलित जीवन के इतिहास से निकला था और, स्वभावत:, उसके पक्ष मे अगणित तर्क वर्तमान थे। हिन्दुस्तान मे रहकर हिन्दुओ से भिन्न मुस्लिम इकाई की अनुभूति अभी बिलकुल नयी और कच्ची थी तथा उसके पक्ष मे कोई नैतिक दलील या दार्शनिक तर्क नही था। यह भी कारण था कि मुसलमान अपनी आन्तरिक भावना को न तो ठीक-ठीक जानते ही थे और न उसे बोलकर प्रकट करने की उन्हे हिम्मत ही होती थी। इकबाल ने अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से यह दर्शन उन्हे दे दिया और उस दृष्टि को पाकर अब मुसलमान उस बात को वीरतापूर्वक बोल रहे हैं, जिसे बोलने मे उन्हे पहले लाज लगती थी।

अग्रेजो के आने से पहले मुसलमान इस देश के स्वामी थे और हिन्दू-सस्कारो के आक्रमण से अपनी रक्षा का प्रश्न उनके सामने प्रमुख नही था। स्वामित्व का गौरव—शासक होने का सतोष कुछ इतना अधिक था कि कि इस्लाम पर पडनेवाले हिन्दू-प्रभावो की ओर उनकी दृष्टि ही नही गयी। और, यह योग्य भी था ; क्योकि वे यहाँ विदेशी बनकर राज नही कर रहे थे। किन्तु, जब उनके हाथ से हिन्दुस्तान की सल्तनत छिन गयी, वे, स्वभावत:, एक प्रकार की विफलता की भावना से आक्रात हो गये। निराश और किंकर्तव्यविमूढ मनुष्य प्राय:, उनलोगो से भी चिढ जाता है, जो उसके हितेच्छु अथवा उसके प्रति उदासीन होते हैं। सम्भव है, मुसलमानो की भी यह मनोदशा उस समय हुई हो।

किन्तु, सिपाही-विद्रोह के दिनो तक उनकी इस प्रकार की अप्रसन्नता के कोई स्पष्ट लक्षण दिखायी नही पड़े। पर, उसके बाद की घटनाओ के आधार पर यह सोचना अयुक्तिसगत नही दीखता कि हिन्दुओ के प्रति उनकी अकारण अप्रसन्नता के कुछ कारण मनोवैज्ञानिक भी रहे हो, तो कोई आश्चर्य नही।

हिन्दुस्तान मे अग्रेजो के पैर जमते-न-जमते यहाँ हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच, सांस्कृतिक जागरण आरम्भ हो गया। जिस प्रकार, हिन्दू-समाज ने उस समय दयानन्द, राममोहनराय, रामकृष्ण और विवेकानन्द को उत्पन्न किया, उसी प्रकार, मुसलमानो के बीच से भी सर सैयद अहमद खाँ, वकारुलमुल्क, नजीर अहमद, मौलाना शिबली और मौलाना हाली उत्पन्न हुए। यह जागरण विद्या, अध्यात्म और प्राचीन सस्कारो का जागरण था तथा मनोवैज्ञानिक न्याय से इसे पलायनवाद का उदाहरण कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। देह से हारी हुई जाति, आत्मा की भूमि मे अपने तेज का चमत्कार दिखलाकर, अपनी ग्लानि को भूलना चाहती थी। सामने के आकाश पर हिन्दू और मुसलमान—दोनो ही के कलंक और पराजय की कथा लिखी हुई थी और दोनो ही उसकी ओर देखने से घबराते थे। इस कलंक को धोने का जो उपाय था, उसपर आरूढ होने की हिम्मत दोनों मे से किसी मे भी नही थी। अतएव इस ग्लानिजनक दृश्य से आँख फेर लेने के उद्देश्य से दोनो ही अपने-अपने प्राचीन गौरव की ओर भगे। वेद और प्राचीन सभ्यता! कुरान और अरब का पाक रेगिस्तान! यह कल्पना दोनो के ध्यान मे उद्दीप्त होती थी और इस अस्तमित महिमा का ध्यान पराजय के घाव पर एक प्रकार की ठण्डक भी पहुँचाता था। यह ठीक है कि यही जागरण आगे चलकर हमारी राष्ट्रीयता का जनक हो गया, किन्तु इसका एक कुप्रभाव भी था। वेद और कुरान की विशेषताओ, हिन्दुत्व और इस्लाम की विशिष्टताओ पर रीझते हुए दोनो ही एक दूसरे से दूर होते जा रहे थे तथा उनका जोर उन्ही बातो पर पड़ता जा रहा था, जो उन दोनो को अलग करनेवाली थी—उन बातो पर नही, जो उनके पारस्परिक मिलन की कडी थी। हिन्दुओ की दृष्टि इतिहास के गह्वर से घूमकर वर्तमान की भूमि पर आ गयी और चूँकि अब और कोई राह नही थी, इसलिए, उन्होने राष्ट्रीयता को पकड़ा। किन्तु मुसलमानो की भावना हिन्दुस्तान की सीमाओ के बाहर चली गयी, जहाँ वृहत्तर इस्लाम के सपने ने उसे मोहित कर लिया। जब तक हिन्दुस्तान मे राष्ट्रीयता का जन्म होने ही जा रहा था, तब तक मुसलमानो की कल्पना ससार भर के मुसलमानी राज्यो के एक धार्मिक सघ की स्थापना के धुँधले चित्र पर आसक्त हो चुकी थी।

हाल के विश्वेतिहास मे यह भी एक विचित्र बात हुई है कि ससार भर के मुसलमानो को एक सूत्र मे बाँधने का आन्दोलन सबसे अधिक हिन्दुस्तान मे ही चला। जो मुसलमान हिन्दुस्तान मे अपनी सल्तनत कायम नही रख सके, उन्ही के

सिर पर विश्व के मुसलमानी देशो की एकता का भूत सवार हुआ। आश्चर्य है कि अंग्रेजो के चाटुकार अमीरअली शिया और आगा खाँ खोजा खिलाफत का उद्धार करने टर्की दौडे ! लेकिन, टर्की का गाजी उन्हे देखकर भूत हो गया। घृणा के साथ उसने अंग्रेजो के साथ उनकी मिताई की चर्चा की और कहा कि "इस युद्ध (१९१४-१८) मे भी तुम अंग्रेजो के ही साथ थे—जब अंग्रेज टर्की के साम्राज्य को मटियामेट कर रहे थे !" इसी प्रकार, सन् १९३१ ई० के दिसम्बर मे, मौलाना शौकतअली ने जेरूसेलम मे जब इस्लामी देशो की एक महासभा की तब उन्हे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मुसलमानो की सार्वभौमिक समस्या पर बोलनेवाले प्रतिनिधियो की दृष्टि इस्लाम की अपेक्षा उनके अपने देश पर ही अधिक जाती थी।

अंग्रेजो से पराजित हो जाने के बाद मुसलमानो मे एक प्रकार की पस्ती आ गई, जिसने उन्हे उचित दिशा की ओर देखने नही दिया—जो वास्तविकता से मुठभेड करने मे सदैव उनका बाधक रही। इस पराजय से उनकी मानसिक स्थिति मे कुछ ऐसे विकार आ गये कि उन्होने कभी विश्वासपूर्वक हिन्दुस्तान की आजादी के लिए सामूहिक प्रयत्न नही किया, बल्कि, देश मे सामूहिक या छिट-पुट जो भी प्रयत्न हुए, उनसे उन्होने अपनी इकाई को ही बढाने का सबक लिया। उन्नीसवी सदी मे उनके बीच जो वहाबी-आन्दोलन आया था, वह साम्प्रदायिक नही था; किन्तु, उसका भी अन्तिम परिणाम इस्लाम की सम्प्रदायगत इकाई का ही पोषक सिद्ध हुआ। और, कौन कह सकता है कि सन् सत्तावन के गदर का भी एक परिणाम उनकी इसी भावना को दृढ करनेवाला सिद्ध नही हुआ ? वहाबी और अलीगढ-दल के आन्दोलनो से लेकर खिलाफत-आन्दोलन तक मुस्लिम-विचार-धारा पश्चिम के मुस्लिम-राज्यो की ओर कुछ अकथनीय तृष्णा एव कुछ अनिर्वचनीय रहस्यात्मकता की दृष्टि से देखती रही है और इसी रहस्यवाद की रेती मे वह खो भी गयी। पच्छिम उसे बराबर दुत्कारता रहा, किन्तु उसने पच्छिम की ओर प्रवाहित होना नही छोडा और अन्त मे जाकर वह जिन्ना साहब की दो जातियो-वाली 'थ्योरी' (कल्पना) की दरार मे गुम हो गयी।

अंग्रेज सबसे पहले मुसलमानो के दुश्मन थे, क्योकि उन्होने राज्य मुसलमानो से ही छीना था। हिन्दू, कांग्रेस का सगठन करके, अंग्रेजो से उस राज्य को वापस लाना चाहते थे और उनकी यह आशा उचित थी कि इस कार्य मे मुसलमानो का मुक्त सहयोग उन्हे प्राप्त होगा। किन्तु, मुसलमान कांग्रेस मे नही पडे, क्योकि सर सैयद ने इसकी मनाही कर दी थी। वे अलग सगठन करके भी अंग्रेजो के खिलाफ उभडना नही चाहते थे, क्योकि सर सैयद और अलीगढ-दल के नेताओ ने उन्हे अच्छी तरह समझा दिया था कि अंग्रेजो से मिलकर मुसलमानो मे शिक्षा फैलाना और उनके लिए अच्छी-अच्छी नौकरियाँ हासिल करना विद्रोही हो जाने

की अपेक्षा कही अच्छा और लाभदायक काम है। इसके सिवा वे कांग्रेस मे जाने से इसलिये भी डरते थे कि काग्रेस मे हिन्दुओ की भरमार थी और मुसलमानो के सास्कृतिक नेताओ ने उन्हे आगाह कर रखा था कि हिन्दू-सस्कृति की पाचन-शक्ति बडी ही विकराल है; उसके पेट मे बहुत कुछ पच चुका है और इस्लाम पर भी उसने गहरे दांत मारे हैं। मगर, शायद, ये बाते तबतक स्पष्ट नही हुई थी। मुसलमान हिन्दुओ के प्रति कुछ सशंक हो उठे थे और वे उनसे खिचने भी लगे थे। किन्तु, तबतक न तो हिन्दुओ को ही यह मालूम था कि इस खिचाव का कारण क्या है अथवा यह कि मुसलमान क्या सचमुच ही खिचते जा रहे हैं; और न मुस्लिम जनता को ही इसका ज्ञान था कि हिन्दू और मुसलमान के बीच के प्रेम-दुग्ध मे कही कोई खटाई पड गयी है। मगर, अग्रेज इस झीनी घटा को भाँप गये थे और उन्हे यह उम्मीद भी हो गयी थी कि इस पतले मेघ को गाढ़ा बनाना बहुत कठिन कार्य नही है। किन्तु, यहाँ हमारा अभिप्राय उनसे नही है। हम तो यह जानने बैठे है कि एकता के दूध को फाडने के काम मे साहित्य ने क्या योग दिया।

भारतीय मुसलमानो मे हिन्दुओ के प्रति जो एक हल्की-सी झिझक, हिन्दुओ के द्वारा आयोजित अभियानो के प्रति एक दबी-दबी विरक्ति तथा वृहत्तर इस्लाम की कल्पना के प्रति जो एक प्रकार की रहस्यात्मक अनुरक्ति आ गयी थी, उसकी पहली झाँकी सर सैयद के प्यारे कवि मौलाना हाली की आवाज मे मिली। उनका 'मुसद्दस' हिन्दुस्तान का नही, इस्लाम का महाकाव्य होकर आया। मुसलमानो के मानसिक स्तर पर जो कामनाएँ ऊँघ रही थी, उन्हे 'हाली' अच्छी तरह पकड़ न सके, किन्तु एकमात्र इस्लाम का गौरव-गान करके उन्होने उन्ही भावनाओ की प्रतिक्रिया को मूर्त्त किया। यों तो 'मुसद्दस' एक प्रशंसनीय काव्य है और उसकी कविताओ ने मुसलमानो को बहुत ही उत्साहित भी किया। किन्तु, ये सारी गोल-मटोल बातें थी। हाली की असली देन तो यह है कि उन्होने पहले-पहल मुसलमानो को इस बात का ध्यान दिलाया कि गगा और जमुना के दोआबे मे आकर इस्लाम की किश्ती डूब गयी है और इसे उबारना है तो मुसलमानो को चाहिये कि वे इस्लाम के उत्स, अरब की ओर देखे।* हाली ने इससे आगे, शायद, और कुछ नही कहा। किन्तु, इतना कहना भी उस समय के लिए हिम्मत का छोटा काम

*वो दीने-हिजाजी का बेबाक बेडा, निशाँ जिसका अक्साये-आलम मे पहुँचा,
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्माँ मे ठिटका न कुलजुम मे झिझका
किये पै सिपर जिसने सातो समुन्दर, वो डूबा दहाने मे गगा के आकर।
वो दीं जिससे तौहीद फैली जहाँ मे, हुआ जलवागर हक जमी-आसमाँ मे।
रहा शिर्क बाकी न वह्मो-गुमाँ मे, वो बदला गया आके हिन्दोस्ताँ मे।

नही था। और, तब भी, देश के किसी कोने से उनके खिलाफ आवाज नही उठी। उनके 'मुसद्दस' पर राय देते हुए सर सैयद ने कहा था—"मरकर जब खुदा के सामने जाऊँगा और जब वह मुझसे पूछेंगे कि मैं दुनिया से क्या करके वापस आया, तब मैं कहूँगा कि हाली से 'मुसद्दस' लिखवा आया हूँ।" और, मौलाना हाली देश के सिरताज मान लिये गये! उनके काव्य के खिलाफ कोई बडा प्रमाण नही मिलता; किन्तु, इतना स्पष्ट है कि बद-गुमानी की घटा—वृहत्तर इस्लाम की कल्पना का पक्षी, साहित्य की भूमि पर उतरने के लिए, हाली की कविता मे अपने डैने तोल रहा था। ज्यो-ज्यो यह भावधारा फैलती गयी, मुसलमान मानसिक धरातल पर हिन्दुओ से अलग होते गये। हिन्दुओ के साथ दूध और पानी की तरह मिलकर रहने का उनका पुराना भाव शिथिल पडता गया और उस समय से लेकर आजतक कांग्रेस ने जो भी आन्दोलन चलाये हैं, उनमे से किसी मे भी मुस्लिम जनता यह सोचकर नही पडी कि यह हिन्दुस्तान की आजादी का सवाल है। १९२०-२१ का असहयोग-आन्दोलन हिन्दू-मुस्लिम-एकता का ज्वलन्त प्रमाण माना जाता है। किन्तु, यह भी तो सोचने की बात है कि १९२० मे १० मार्च को गाँधीजी ने असहयोग-आन्दोलन का जो घोषणापत्र (मेनिफेस्टो) लिखा था उसमे उन्होने मुसलमानो के हृदय के क्षोभ को ही आन्दोलन का प्रधान कारण माना। यह ठीक है कि एक बार जब हिन्दू और मुसलमान एक होकर आगे बढे तब भारतीय स्वाधीनता मे ही उन्हे खिलाफत और हिन्दुस्तान, दोनो के उद्धार का मार्ग दिखाई पडा! किन्तु, बाद की घटनाओ ने जो सबक छोडा है, उसे देखते हुए कौन कह सकता है कि गाँधीजी ने उस समय अगर खिलाफत के प्रश्न को प्रधानता न दी होती, तब भी मुसलमान कांग्रेस का साथ उसी प्रकार देते जिस प्रकार उन्होने उस समय देने की कृपा की? फिर यह भी विचारणीय है कि खिलाफत के मसले के खत्म होते ही मुसलमान कांग्रेस से खिसकने क्यो लगे। हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई तो अभी जारी थी।

भारतीय मुसलमानो के हृदय मे जो अस्फुट-सी भावना उत्पन्न हो रही थी कि वे हिन्दुओ से (और, शायद, दुनिया की अन्य जातियो से भी) भिन्न हैं, उसकी ओर हाली ने सिर्फ एक सकेत भर किया था। हाली के बाद अकबर इलाहाबादी आये। वे सर सैयद के घोर विरोधियो मे से थे और अलीगढ-दल की राजनीति से उनका सहज वैर था। उनकी सारी जिन्दगी सर सैयद और अलीगढ-दल के नेताओ के खिलाफ लड़ते बीती। वे हिन्दू और मुसलमान—दोनो की दृष्टि को आपसी मतभेद से हटाकर उस समान विपत्ति पर ले जाना चाहते थे जो पाश्चात्य शासन और सभ्यता के कारण हिन्दुस्तान पर आ पडी थी। उनका यह उद्योग इतना सबल और निश्छल था कि वे अगर सरकारी मुलाजिम न होकर समाज और राजनीति के क्षेत्र मे खुलकर खडे हुए होते, तो देश के

भविष्य पर उनकी वाणी का प्रभाव कुछ अधिक प्रबल और व्यापक रूप में पडता। किन्तु, देश के दुर्भाग्य से उन्हे सारी जिन्दगी बन्धनो मे काटनी पड़ी और जिस समय वे अपने खानगी कमरे मे बैठकर छिपे-छिपे (और शायद, सहमे-सहमे भी) अमृत के छीटे उडा रहे थे ठीक उसी समय, भगवान ने कालकूट का भाण्ड देकर इस देश मे 'इकबाल' को उतार दिया! बीसवी सदी के प्रथम चरण के अन्त तक इकबाल ने अपनी सारी भावनाओ को फारसी साहित्य और उर्दू-साहित्य मे बिखेर दिया। वे दर्शन के विद्वान और स्वयं भी एक दार्शनिक पुरुष थे। उनकी विशाल दृष्टि के वृत्त मे मुसलमानो की स्पष्ट और धुँधली भावनाएँ साकार हो उठी। उन्होने मुस्लिम-समाज के हृदय की गहराइयो मे प्रवेश किया। वहाँ जाकर वे उन सभी अस्फुट एव अर्द्ध-स्फुट कामनाओ को ढूंढने लगे जो, प्रायः, एक सदी से मुसलमानो को बेचैन कर रही थी; किन्तु, जिन्हे मुसलमान भली-भाँति समझ नही पाते थे। वे ज्यो-ज्यो उनका-अनुसंधान करते गये, मुसलमानो के सामने यह बात प्रत्यक्ष होती गयी कि उनकी सम्प्रदायगत इकाई काल्पनिक नही, प्रत्युत, एक वास्तविक सत्य है। इकबाल के आगमन के समय मुस्लिम-समाज दो भावनाओ के सन्धिस्थल पर खडा था। एक भावना थी हिन्दुओ से अलग होकर अपनी सत्ता को आत्मतंत्र रूप देने की और दूसरी थी भारतीय राष्ट्रीयता मे सहयोग देकर गैर-मुस्लिम लोगो के उत्थान के साथ अपना उत्थान खोजने की। लेकिन, चूँकि पिछली भावना मुसलमानो के हृदय से नही निकली थी—जनमत के द्वारा उनके सामने लायी जा रही थी, इसलिए, उसका जोर कुछ कम था। तो भी यह सच है कि इकबाल अगर राष्ट्रीयता से समझौता करके मुसलमानो का पथ-प्रदर्शन करने को आगे बढते, तो आज हिन्दुस्तान के इतिहास का ढाँचा कुछ दूसरा ही होता। किन्तु, यह सभव न हुआ। अपनी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार और नीति के कारण इकबाल एक मात्र इस्लाम के उद्धारक बनकर खड़े हुए और उन्होने मुसलमानो की उन भावनाओ को दुलराना शुरू किया जो इस्लाम की इकाई की पुष्टि के लिए बेचैन थी।

कोई भी लेखक या कवि सस्कारो की किसी विशेष दिशा की ओर क्यो मुडता है, यह एक रहस्य की बात है*। इकबाल के पूर्वज ब्राह्मण थे और ब्राह्मणत्व का सस्कार इकबाल को विरासत के रूप मे जरूर मिला होगा। उन्होने योरप जाकर विद्वत्समाज का सान्निध्य प्राप्त किया था। वे कवि थे और कवियो का स्वाभाविक झुकाव कोमलता, आदर्शवादिता और वृत्तियो की सूक्ष्मता की ओर होता है। यह क्यो हुआ कि इन्होने योरप जाकर केवल 'नीत्शे' को पसन्द किया? यह क्यो हुआ कि योरप से वे 'अफलातून' की फिलासफी के विरोधी होकर

---

*देखिये इसी पुस्तक का अन्तिम निवन्ध।

लौटे। यह क्यो हुआ कि एक आस्तिक कवि के भीतर ऐसी फिलासफी पैदा हो गई जो ईश्वर की अवज्ञा और उससे गुस्ताखी करने से भी नही डरती थी? लेकिन, एक दूसरी दृष्टि से यह सब स्वाभाविक मालूम होता है। मुस्लिम-जाति ने हिन्दुस्तान मे अपनी सत्ता इसलिए नही खोयी थी कि उसका प्रतिपक्षी अधिक बलवान था, बल्कि, इसलिए कि उसके अपने संस्कार कमजोर हो गये थे। सूफियों का वैराग्योत्पादक प्रभाव, गुल, बुलबुल और शराब की शायरी के दुष्परिणाम; आपसी वैर-फूट; जीवन मे संघर्ष से विमुखता—ये कुछ कारण थे, जिनके चलते वह निर्वीर्य हो गयी थी। इसके सिवा, जब इकबाल आये, उसके पहले से ही मुसलमान किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे थे। उनकी अपनी शक्ति क्षीण हो गयी थी और वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं के अभियान को शंका की दृष्टि से देखते थे—शंका इस बात की कि हिन्दुओ का अभियान अगर सफल हो गया तो क्या होगा? मुसलमान अभी कल तक शासक थे और वे इस दृश्य को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि हिन्दुस्तान की सल्तनत फिर से वापस आये और वह एकमात्र मुसलमानो की ही न हो। और, अभी वें अपने अहंकार को भूलकर इतना उदार भी न हो पाये थे कि सबकी आजादी के साथ अपनी आजादी को, सबकी गुलामी के साथ अपनी गुलामी से, श्रेष्ठ समझ सकें। किंकर्त्तव्यविमूढता के बीच वे शायद, इस ख्वाहिश मे तड़प रहे थे कि काश, कोई ऐसी सूरत निकलती जिससे हम हिन्दुओ के सामने झुके बिना ही, अपने कल के गुलामो को अपनी बराबरी का दर्जा दिये बिना ही अपना खोया हुआ गौरव फिर से प्राप्त कर पाते—कि काश, हम किसी तरह तहजीब और ताकत का उसी तरह से मरकज (केन्द्र) बने रह पाते जिस तरह से पहले थे और हिन्दुस्तान पर हमारा वही रोब रहता जो हमारी हुकूमत के दिनों मे था। मगर, काँग्रेस बढ़ती जा रही थी और हिन्दू उसमे भरते जा रहे थे। इस बाढ़ का प्रतिकार मुसलमानो के हाथो संभव नही था और वे इसमे कूदने से भी डरते थे; क्योकि वैसा करने से उनकी अपनी इकाई के बह जाने का पूरा खौफ था। लिहाजा, वे वृहत्तर इस्लाम की कल्पना के साथ और भी जोर से चिपकने लगे, किन्तु, आंख मूंदकर—महज वास्तविकता से दृष्टि फेर लेने के उद्देश्य से और बिना यह सोचे-समझे हुए कि वृहत्तर इस्लाम का भारतीय रूप क्या हो सकता है।

ऐसी अवस्था मे इकबाल हिन्दुस्तानी मुसलमान के नये नबी बनकर आये, मानो, मुसलमानो के हृदय की अविश्लिष्ट बेचैनियो और अपरिज्ञात आशंकाओ ने ही उन्हे अपने निदान के लिए उत्पन्न किया हो। इकबाल ने वास्तविकता का सामना ठीक वस्तुवादी दृष्टिकोण से किया और उन्होंने बड़ी ही वीरता के साथ उन भावनाओ की व्याख्या शुरू कर दी जो मुसलमानों के भीतर खुलकर भी नहीं खुल पा रही थी। उन्होने आते ही अपने हिन्दुस्तानी धर्म-बन्धुओ से सवाल किया—

यों तो सैयद भी हो, मिर्जा भी हो, अफगान भी हो,
तुम सभी कुछ हो, बताओ तो, मुसलमान भी हो ?

इकबाल को इस प्रश्न के उत्तर के लिए इन्तजार करने की कोई जरूरत नही थी। इनसे पहले कई लोग इशारा कर चुके थे कि हिन्दुस्तान मे आकर इस्लाम की किश्ती गर्क हो गयी है। और, उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वे कहने लगे—

हाथ बेजोर हैं, इलहाद से दिल खूगर हैं,
''बुतशिकन उठ गये, बाकी जो रहे बुतगर हैं।
''''कौम मजहब से है, मजहब जो नहीं, तुम भी नहीं,
जज्बे-बाहम जो नहीं, महफिले-अंजुम भी नहीं।
''''वज्अ मे तुम हो नसारा तो तमद्दुन में हुनूद,
ये मुसलमाँ हैं ? जिन्हें देख के शरमायें यहूद।
''''मिस्ले-अंजुम उफके-कौम पे रौशन भी हुए,
बुते-हिन्दी की मुहब्बत में बरहमन भी हुए।
'' फिरकाबन्दी है कहीं और कहीं जातें हैं,
क्या जमाने में पनपने की यही बातें हैं ?
''''हरमे-पाक भी, अल्लाह भी, कुरआन भी एक,
कुछ बड़ी बात थी होते जो मुसलमान भी एक ?*

मौलाना हाली ने जिस बात को सकेत मे कहा था, इकबाल उसे वीरतापूर्वक जोर से दुहराने लगे—

वज्अ में तुम हो नसारा तो तमद्दुन में हुनूद
× × ×
बुते-हिन्दी की मुहब्बत में बरहमन भी हुए।

इकबाल ने मुसलमानो के दिमाग पर इस बात को बिठा दिया कि हिन्दुस्तान मे आकर इस्लाम वास्तविक इस्लाम नही रह गया है, वह तो सनातन धर्म का ही अरबी तर्जुमा हो गया है, ठीक वैसे ही जैसे सिक्खो का खालसा-धर्म इस्लाम का ही भारतीय संस्करण है। हिन्दुओ और मुसलमानो ने अपने सामाजिक जीवन के मेल-मिलाप से जो एक सास्कृतिक एकता प्राप्त की थी, इकबाल ने उसे गलत बताया तथा मुसलमानो के भीतर उन्होने यह अनुभूति

---

*बेजोर=अशक्त। इलहाद=नास्तिकता। खूगर=अभ्यस्त। बुतशिकन=मूर्त्तिभजक। बुतगर=मूर्त्ति गढनेवाला। जज्बे-बाहम=पारस्परिक आकर्षण का उत्साह। महफिले-अजुम=तारो की सभा। वज्अ=रीति-रिवाज या सजधज। नसारा=ईसाई। तमद्दुन=सस्कृति। हुनूद=हिन्दू। यहूद=यहूदी। मिस्ले अजुम=सितारो की तरह। उफक=क्षितिज। हरम=निराकार-उपासना का स्थान।

पैदा कर दी कि इस्लाम के दौर्बल्य का कारण है उस पर हिन्दू-धर्म का घातक रूप मे प्रभाव पडना। इसी अनुभूति के ज्ञान ने हिन्दुओ और मुसलमानो के सामाजिक जीवन मे बहिष्कार और विच्छिन्नता को प्रेरित किया और धीरे-धीरे (तथा आरम्भ मे अदृश्य रूप से भी) उस वस्त्र के ताने-बाने अलग किये जाने लगे जिसे दोनो ने एक साथ मिलकर बुना था। हम नही कह सकते कि इकबाल की वाणी का जो दुष्परिणाम देश की किस्मत पर पडा, वही उनके जीवन का उद्देश्य भी था। सम्भव है कि साहित्य-रचना का काम हाथ मे लेते समय उन्हे किसी भी ऐसे उद्देश्य का ज्ञान न रहा हो। और, सम्भव है, देश की शक्ति को बढाने के लिए ही वे मुसलमानो की इकाई को पुष्ट करने मे लगे हो। अथवा, यह भी सम्भव है कि स्वय न चाहते हुए भी वे परिस्थितियो के धक्के मे पडकर साम्प्रदायिक बन गये हो। यह द्वन्द्व हमे इसलिए घेरता है कि आरम्भ मे इकबाल राष्ट्रीय विचारो के पोषक थे और हिन्दुस्तान की किस्मत पर उन्होने खून के कुछ ऐसे आँसू बहाये हैं जिनकी सचाई पर हमे शका हो ही नही सकती। उनकी एक ही कविता 'तसवीरे-दर्द' इस बात को प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट है कि उनके दिल मे हिन्दुस्तान की दुरवस्था के लिए बहुत ही कठिन ऐंठन चल रही थी और वे विदेशी शासन से काफी बेजार थे। किन्तु, आरम्भ से ही हम उनमे राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता के बीच एक प्रकार का द्वन्द्व भी पाते हैं। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'—इस गजल का आरम्भिक अश भारत का राष्ट्रीय गीत समझा जाता है, पर इसी जमीन पर लिखी उनकी ये पक्तियाँ—

ऐ आब-रूदे-गंगा! वह दिन है याद तुझको
उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा?
....चीनो-अरब हमारा, हिन्दोस्ताँ हमारा,
मुस्लिम हैं हम, वतन है सारा जहाँ हमारा *

साफ बतलाती है कि राष्ट्रीयता के इस उत्साह का असल उत्स कहाँ था!

इकबाल की पुण्यमती आत्मा हमे क्षमा करे, क्योकि अज्ञान मे पडकर हम उनकी बुराई करना नही चाहते। समुचित प्रमाण के अभाव मे हम यह भी नही कह सकते कि उन्होने जान-बूझकर भारतीय राष्ट्रीयता का अहित चाहा था; और बहुत सभव है कि उनका जैसा भी विकास हुआ, प्रकृति के स्वाभाविक नियमो के अन्दर ही हुआ। किन्तु, अगर यह ठीक है कि मुसलमान हिन्दुओ से अलग होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का सपना देख रहे थे और वे

*इस लेख के "हिमालय" मे प्रकाशित होने के बाद स्वर्गीय स्वामी भवानी-दयालजी सन्यासी ने लेखक को पत्र द्वारा यह बतलाने की कृपा की थी कि इकबाल की ये पक्तियाँ बहुत बाद की रचना है।

एक योग्य दार्शनिक नेता की ताक मे बैठे थे, तो इस बात के मानने मे भी किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि यह नेता इकबाल ही हुए और उन्होने ही मुसलमानो के दिल मे अस्फुट या अर्धस्फुट रूप से गूंजनेवाले भावो को प्रत्यक्ष करके उन्हे दिखला दिया तथा इन भावो के विकास और परिणति की दिशा भी उन्हे बतला दी।

इकबाल ने जीवन की अनन्त राहो मे से कविता की राह पकडी; इसका कारण यह था कि बुद्धि को छोडकर उन्होने हृदय को पसन्द किया था और स्पष्टतापूर्वक वे मानते थे कि वास्तविकता के असली रूप तक पहुँचने के लिए दर्शन और विज्ञान की अपेक्षा कविता का मार्ग कही अधिक सुगम है। किन्तु, वे ऐसे कवि नही थे, जो फूलो और बादलो की तस्वीर लेकर थकी हुई जनता का मनोरजन करने आता है। प्रतिभा की रेती से पत्थर खरादना उनका काम नही था और न वे कारीगरी का दावा ही करते थे। जो लोग कविता और कारीगरी के बीच अविच्छिन्न सम्बन्ध के विश्वासी हैं, इकबाल को वे कवि नही मानेंगे। किन्तु, जो लोग यह मानते हैं कि कविता केवल कारीगरी ही नही, वरन, एक औजार भी है जिससे नये मूल्यो, नये सस्कारो और नूतन क्षितिजो का निर्माण किया जाता है, वे केवल एक पारायण के बाद ही इकबाल को एक ऐसा कवि मान लेगे जिसका जोड एक तो क्या, कितनी ही सदियो के बाद भी, शायद ही, उत्पन्न होता है। स्वयं इकबाल भी कवि होने का दावा नही करते थे। 'मुझे कला के सूक्ष्म तत्त्वो का ज्ञान नही', 'मैं कविता नही लिख रहा हूँ', आदि पक्तियाँ उनकी रचनाओ मे मिलती ही रहती हैं। जब वे कविताएँ लिखते हैं, उनकी दृष्टि सौन्दर्य पर केन्द्रित नही रहती; ऐसा भासता है, मानों कोई दर्शन उन्हें पुकार रहा हो और कविता, शायद, वह सिर्फ इसलिए लिखते हैं कि यह विचारो के व्यक्त करने का एक सबल माध्यम है—ऐसा माध्यम जिसमें भावनाएँ और आवेग भली-भाँति केन्द्रित किये जा सकते हैं, जिस माध्यम में जोर और चमत्कार है तथा जो विचारो को आसानी से फैला भी सकता है—और प्रतिपक्षी का तर्क जिसकी प्रगति को ठीक उसी तरह से नही रोक सकता जिस तरह से वह दर्शन, राजनीति या विज्ञान की राह को रोकता है। उनकी सभी रचनाओ में हम एक प्रकार की वास्तविकता से संघर्ष की अवस्था को मौजूद पाते हैं। कोई पहाड है, जिसे वे तोडना चाहते हैं; कोई अनुल्लङ्घ्य समुद्र है, जिसे वे पार करना चाहते है; कोई योद्धा है, जिसे वे बैठने देना नहीं चाहते। कविताओ के भीतर उसकी मुद्रा गुल और बुलबुल से खेलनेवाले कवि की सरल और प्रसन्न मुद्रा नही, बल्कि, उस नायक, उस नेता अथवा उस नबी की गम्भीर मुद्रा है जो अपने कधो पर एक विशाल जनसमुदाय की किस्मत का बोझ महसूस करता है। आरम्भ मे यह बात प्रत्यक्ष नही थी कि वे जिस

वास्तविकता से उलझ रहे हैं, वह है क्या। किन्तु, ज्यो-ज्यो समय बीतना गया, उसका यथार्थ रूप प्रत्यक्ष होता गया। यह वास्तविकता थी इस्लाम के उद्धार की, उसे हिन्दू-प्रभावो से विमुक्त करने की, यह वास्तविकता थी इस्लाम के आरम्भिक रूप को प्रत्यावर्तित करने की। वृहत्तर इस्लाम की सृष्टि और विकास इक़बाल के जीवन के सबसे प्यारे उद्देश्य निकले। किन्तु, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होने धर्म की कोमलता और उज्ज्वलता पर जोर नही दिया, प्रत्युत, मुसलमानो से यह कहा कि वीरता, निर्भीकता, युद्धप्रियता और खतरो का प्रेम ही इस्लाम के विशिष्ट गुण हैं तथा इस्लाम को अगर पुनरुज्जीवित करना है तो इन गुणो को वापस लाओ। उनका सदेश जीवन, जागरण और आक्रमण का सदेश है तथा घूम-फिरकर वे मुसलमानो को आक्रमणकारी होने की सलाह देते हैं। उनकी आँखो के सामने विश्व नही, इस्लाम है और वह इस्लाम के उद्धार मे ही ससार के उद्धार का सपना देखते हैं। उनके सामने जो यह वास्तविकता खड़ी थी, उनकी तमाम रचनाएँ उसी की पुकारो के जवाब हैं। मुसलमानो ने एक स्वर से उन्हे अपना जातीय कवि स्वीकार किया था और उन्होने इस पद के गौरव को ऐसा सँभाला कि मुस्लिम-जीवन की वास्तविकता की कोई भी पुकार उनके सामने से विना उत्तर के नही लौटी।

इकबाल ने कविता का माध्यम तो चुन लिया; किन्तु, वे जानते थे कि इस्लाम के पतन मे हाफिज-जैसे हालावादियो की जृम्भोत्पादक वाणी का भी कम हाथ नही था। इसलिए, अपनी कविता को उन्होने फूल, मदिरा और मोहनी के प्रभाव से मुक्त रखा। हिन्दुस्तान के कलाकारो की नारी-उपासना से वे कैसे वेजार थे, यह बात उनकी निम्नलिखित पक्तियो से प्रत्यक्ष हो जाती है—

हिन्द के शायरो, सूरतगरो, अफसानानवीस,
आह! बेचारो के आसाब पर औरत है सवार!*

हाफिज को तो एक कविता में उन्होने 'गुलाबो के बीच छिपकर रहनेवाला वह साँप' कह दिया 'जिसके पास घातक विष होता है तथा जो मरने के पहले अपने शिकार को नीद मे सुला देता है।' अस्तु।

कविता का माध्यम तो ठीक था, किन्तु मुसलमानो के लिए जिस मोहक भविष्य की उन्होने कल्पना की थी, उसकी प्राप्ति के निमित्त शक्ति-सचय करने के लिए एक नया दर्शन और इतिहास की एक नयी व्याख्या भी जरूरी थी, और यह भी जरूरी था कि यह व्याख्या और दर्शन इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तो के अनुकूल हो। किन्तु, इस्लाम का भारतीय रूप इकबाल को विकृत-सा लगा। भारत के बाहर भी उसमे ईसाई और सूफी सन्तो के मतो का धुँधलापन भर गया था। हिन्दुस्तान

*शायर=कवि। सूरतगर=चित्रकार। अफसानानवीस=कथाकार। आसाब =स्नायु।

के मुसलमान इस्लाम के उस रूप से कुछ दूर जा पडे थे जिसके माननेवाले लोग मुजाहिद या धार्मिक योद्धा समझे जाते थे। वे तो उसके उस रूप पर आसक्त थे जिस पर सरमद, मन्सूर और हजरत चिश्ती-जैसे सन्तो का प्रभाव था तथा जो आध्यात्मिकता के आलिंगन मे पड़कर अपनी आरम्भिक क्रूरता छोड़, कुछ कोमल हो गया था। इसके सिवा, बहुत दिनो के साथ रहने के कारण, हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने (जो अधिकाश मे हिन्दू-वश से ही निकले थे) हिन्दुओ के निवृत्तिवाद से भी कुछ-न-कुछ प्रभाव ग्रहण कर लिया था, जो उनके सूफी-मत-सम्मत इस्लाम का पोषक ही पड़ता था। इकबाल ने इस्लाम के इस निवृत्ति-मूलक रूप का विरोध किया और मुसलमानो के सामने उन्होने इस्लाम का वह युद्ध-परक रूप रखा जो उसके इतिहास के आरम्भ के दिनो मे प्रचलित था। इस्लाम के आरम्भिक इतिहास की व्याख्या से उन्होने अपने मत को पुष्ट किया तथा अपने अनुयायियो को उन्होने यह शिक्षा दी कि धर्म के नाम पर तलवार उठाना जीवन का सबसे बडा पुण्य है। "शिकवा" नाम्नी अपनी ओजस्विनी कविता मे खुदा के सामने खडे होकर जब वे इस्लाम की वकालत करने लगे, तब अपने पक्ष की सबसे आगे बढनेवाली गोटी उन्हे यह सूझी—

बस रहे थे यहीं सलजूक़ भी, तूरानी भी,
अहले-ची चीन में, ईरान में सासानी भी,
इसी मामूरे में आबाद थे यूनानी भी,
इसी दुनिया में यहूदी भी थे, नसरानी भी।
पर, तेरे नाम पे तलवार उठाई किसने ?
बात जो बिगड़ी हुई थी वह बनाई किसने ?*

भगवान की बिगडी हुई बात तो बन गयी—यानी मूर्त्तियाँ तोड डाली गयीं और, तौहीद (एकेश्वरवाद) में विश्वास करनेवालो की संख्या मे वृद्धि हो गयी; किन्तु इकबाल बीसवी सदी के कवि थे—वह बीसवीं सदी, जो युद्ध की लपटो मे झुलसती हुई युद्ध की व्यर्थता को भली-भांति समझ रही है। फिर यह कैसे हो सकता था कि वे युद्ध का समर्थन युद्ध के लिए ही करें ? अतएव, उसी कविता मे उन्होने खूँरेजियो के औचित्य को यह कहकर सिद्ध किया कि वे ईश्वर के नाम पर की गयी थी—

हम जो जीते थे तो जंगों की मुसीबत के लिए,
और मरते थे तेरे नाम की अज़मत के लिए,

---

*सलजूक=तुर्कों की एक-जाति है। तूरानी=एक दूसरी तुर्क कौम। अहले-ची=चीन वाले। सासानी=पारसी जाति। मामूरा=दायरा, घेरा, दुनिया। नसरानी=ईसाई। अज़मत=बड़ाई।

थी न कुछ तेगजनी अपनी हुकूमत के लिए,
सर-बकफ फिरते थे क्या दह्र मे दौलत के लिए ?
कौम अपनी जो जरोमाले-जहाँ पर मरती,
बुतपरस्ती के एवज बुतशिकनी क्यो करती ?*

मगर, सच तो यह है कि तेगजनी दौलत के लिए हो अथवा ईश्वरसिद्धि के लिए, वह दोनो ही हालतो मे एक-सी निन्द्य है। आज हिन्दुस्तान मे यह तेग-जनी दोनो मकसदो के लिए एक साथ की जा रही है। काश, सर इकबाल इस दम जिन्दा होते और देखते कि उनकी फिलासफी ने हिन्दुस्तान मे क्या गजब ढा रखा है! और, क्या सचमुच ही बुतशिकनो ने दौलतपरस्ती नही की? तो फिर सोमनाथ के मन्दिर की मूर्त्तियो का सोना गजनी क्यो ले जाया गया था? 'शिकवा' और 'जवाबे-शिकवा'—इन दोनो कविताओ की रचना 'बागे-दरा' के दिनो मे हुई थी और ये, दोनो ही, रचनाएँ हाल के उर्दू-काव्य मे बिलकुल बेजोड चीजें हैं। इन कविताओं के भीतर हाली का वह जोश और भी उबाल खा रहा है जिसे उन्होने 'मुसद्दस' मे व्यक्त किया था। इस्लाम की अस्तगत वीरता का वही बखान, हिन्दूधर्म से प्रभावित होने के कारण मुसलमानो की वही निन्दा, जो मुसद्दस मे है, इकबाल के शिकवो मे भी उतरी और पहले से अधिक उग्रता के साथ, क्योकि हाली की अपेक्षा इकबाल कही अधिक चैतन्य, उग्र और ज्वलन्त कवि थे। हिन्दुस्तान मे मुसलमानो की सल्तनत छिन गयी थी, किन्तु, वह हिन्दुओ के पास नही आई थी, अतः, यह कैसे हो सकता था कि हिन्दू मुसलमानो पर हँसते? मगर, इकबाल को जान पडा जैसे मुसलमानो के ह्रास पर तमाम मूर्तिपूजक हँस रहे हो। और, उन्होने इसकी शिकायत भगवान के यहाँ तक पहुँचा दी —

बुत सनमखानों में कहते हैं, 'मुसलमान गये'
है खुशी उनको कि काबे के निगहबान गये।

× × ×

दिल तुझे वे भी गये, अपना सिला ले भी गये,
आके बैठे भी न थे और निकाले भी गये।*

शिकवे के अन्त मे जब भगवान से वे अन्तिम वरदान माँगने को हाथ पसारते हैं तब उनके मुख से बेसाख्ता निकल पडता है—

---

*तेगजनी = तलवारबाजी। सरबकफ = हथेली पर सिर लिये हुए। दह्र = संसार। जरोमाल = धन दौलत।

*सनमखाना = प्रतिमालय। काबा = निराकार-पूजा का स्थान। निगहबान = रखवाला। सिला = एवज, बदला या पुरस्कार।

जिन्से-नायाबे मुहब्बत को फ़रोज़ाँ कर दें,
हिन्द के दैरनशीनों को मुसल्माँ कर दे।*

इकबाल की दृष्टि मे हिन्दुस्तान के मुसलमान दैरनशीन (प्रतिमापूजक) हो गये थे, अतएव, उन्होने अल्लाह से दुआ की कि वे इन बहके हुए मुसलमानो को फिर से असली मुसलमान बना दें! इकबाल आजीवन धर्म की आड मे बोलते रहे। किन्तु, धर्म का पर्याय उनके लिए एक मात्र इस्लाम था और इस्लाम की सबसे बडी विशेषता वह खड्गवाद को समझते थे। 'बाले-जिब्रील' की एक कविता मे वे कहते है—

सोचा भी है अय मर्दे-मुसल्माँ कभी तूने
क्या चीज है फ़ौलाद की शमशीरे जिगरदार?
उस बैत का ये मिसरए-अव्वल है कि जिसमें
पोशीदा चले आते हैं तौहीद के असरार। *

तलवार के मत्र मे तौहीद के रहस्य प्रच्छन्न है, इसे अबतक किसी ने भी नहीं देखा था। किन्तु, इकबाल ने उसे देखा और अपने धर्मबन्धुओ को भी दिखला दिया। लारेन्स-जैसे कुछ कवियो ने यौन-चेतना को धर्म की पवित्रता प्रदान कर दी है। इकबाल के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि उन्होने खड्गवाद को धर्म के पार्श्व मे अधिष्ठित कर दिया। पाकिस्तान की मांग के पीछे कौन-सी भावना काम कर रही है, केवल नौ करोड मुसलमान कोई तीस करोड लोगो के खिलाफ युद्ध ठान देने की कैसे हिम्मत कर रहे है, इस सभ्य और सुसंस्कृत युग मे भी लोग हलाकू और चगेज खां को अपना आदर्श क्यो मान रहे हैं तथा क्या कारण है कि मुसलमानो के नेता सबसे अधिक गाँधीजी से ही नाराज हैं—इन बातो को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि इकबाल का जीवन-दर्शन क्या था।

इस्लाम एक स्वेच्छाचारी (Autocratic) परमात्मा की सत्ता मे विश्वास करता है। जिसकी इच्छा के बिना ससार मे एक पत्ता भी नही हिल सकता। उसके माननेवाले जितने लोग है, सभी उसकी प्रजा हैं, सभी उसके बन्दे हैं। बन्दे को यह हक नही कि वह मालिक के कामो को शका की दृष्टि से देखे अथवा उससे शोखी करे। इकबाल एक दृढ मोमिन के रूप मे पूजनीय हो गये हैं, किन्तु, उनकी कल्पना का भगवान स्वेच्छाचारी नही है और न उसका बन्दा ही बन्दा मात्र है।

---

* जिन्स = चीज। नायाब = अप्रतिम, अलभ्य। फ़रोज़ाँ = रौशन। दैरनशीन = प्रतिमापूजक, प्रतिमालय मे बैठनेवाला।

* फौलाद = लोहा। शमशीर = तलवार। जिगरदार = हिम्मत से भरी। बैत = कविता, पद। मिसरए-अव्वल = छन्द की पहली पंक्ति। पोशीदा = प्रच्छन्न। तौहीद = एकेश्वरवाद। असरार = भेद।

जीव को वे ब्रह्म से स्वतन्त्र मानते हैं; किन्तु, उनका कहना है कि जीव ईश्वर से जितना ही दूर रहता है, उतना ही वह अपूर्ण होता है। उनकी पूर्णता ईश्वर के सामीप्य मे है। किन्तु, इस सामीप्य को वे लय की अवस्था नही मानते। उलटे, वे यह कहते हैं कि जीव ईश्वर मे नही, प्रत्युत पूर्ण रूप से विकसित जीव के भीतर ईश्वर ही विलीन हो जाता है। जीव के सम्बन्ध मे शायद, इसी कल्पना के आधार पर उन्होने 'खुदी' का सिद्धान्त निकाला जिसके कारण उनके खिलाफ नास्तिक होने का फतवा दिया गया था तथा जिसकी व्याप्तियो से अब भी कितने ही धर्मभीरु उलेमा सहमत नही होते। 'खुदी' का सही अर्थ करना जरा कठिन है। इसे हम 'आत्मसत्ता का सिद्धान्त' कह सकते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्ड मे हमारी भी एक अलग सत्ता है जो किसी से भी न्यून नही है। ज्वलन्त पौरुष, अहकार और आत्माभिमान इस सत्ता के गुण है। हम सर्वश्रेष्ठ हैं और हमारी मर्जी के खिलाफ कोई बात नही चल सकती। इन कुछ लक्षणो मे खुदी के सिद्धान्त की कुछ स्थूल विशिष्टताएँ आ जाती हैं। दार्शनिक पक्ष मे अबतक के सभी महात्माओ और कवियो ने मनुष्य को परम सत्ता के सामने झुकने का सन्देश दिया था, किन्तु इकबाल ने भक्तो से भी कहा—

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है? *

कहते हैं, खुदी के इस सिद्धान्त के अनुसन्धान मे उन प्रभावो का हाथ है जो इकाबल के मस्तिष्क पर मौलाना रूमी और जर्मन दार्शनिक नीत्शे की रचनाओ के अध्ययन से पडे थे। मौलाना रूमी एक दार्शनिक सन्त और रहस्यवादी पुरुष थे, किन्तु, वे जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व मे विश्वास करते थे। ईश्वर और जीव के पारस्परिक मिलन के सम्बन्ध मे उनका भी कहना है कि जीव ब्रह्म मे लय नही होता, प्रत्युत ब्रह्म की सत्ता के आलोक मे पड़कर वह स्वय भी दीप्त हो उठता है एव उस दीप्ति के साथ उसकी सत्ता भी स्वतन्त्र रूप से कायम रहती है, ठीक वैसे ही जैसे अगारो के पुञ्ज मे पडकर एक लौहखण्ड अगार बनकर कायम रहे। इसके विपरीत 'नीत्शे' पूर्ण रूप से नास्तिक था। अपने मोह के कारण इकबाल ने उसे हृदय से आस्तिक और बुद्धि से नास्तिक कहा है। किन्तु, आस्तिकता का कोई प्रमाण नीत्शे की रचनाओ मे नही मिलता। नीत्शे ज्वलन्त पौरुष एव उत्कट वैयक्तिकता का घोर उपासक था। उसके सामने ऐसे किसी भी सिद्धान्त की इज्जत नही थी जो मनुष्य को विनय और शील सिखाता है। वह बौद्ध-धर्म, ईसाईमत तथा सुकरात और अफलातून के सिद्धान्तो का प्रचण्ड शत्रु था; क्योकि ये सिद्धान्त मनुष्यो मे कोमलता, उदारता, अपरिग्रह, निवृत्ति और वैराग्य का

* तकदीर=भाग्यलिपि। खुदी=आत्मसत्ता। बुलन्द=ऊंचा। रजा=इच्छा।

प्रचार करते है। ईसाई-धर्म को उसने गुलामो, कमजोरो और बकरियो का धर्म कहा एवं ऐतिहासिक अनुसधानो से उसने यह सिद्ध कर दिखाया कि जब यहूदियो पर रोमनो का प्रभुत्व था तब यहूदियो ने रोमनो के नैतिक, पक्ष को कमजोर बनाने के लिए ही इस धर्म का आविष्कार किया था। नीत्शे का कहना है कि ईसाई-धर्म की ईजाद करके गुलाम यहूदी लोग दैन्य, दुरवस्था, निर्धनता एव उदारता की प्रशसा इसलिए करने लगे कि इस प्रकार, वे रोमनो के हृदय मे वैभव, प्रताप और पौरुष के प्रति ग्लानि उत्पन्न कर, उनके इन गुणो का विनाश करके उन्हे शासक के पद से च्युत करना चाहते थे। नीत्शे की राय मे यही वह अस्त्र था जिसके प्रयोग से यहूदियो ने रोमनो को पराजित भी किया। नीत्शे ऐसे सभी धर्मो को निन्द्य और त्याज्य बताता है जो मैत्री, करुणा और समानता के प्रचारक हैं अथवा जो शिक्षित से अशिक्षित, विद्वान् से मूर्ख, धनिक से दरिद्र और सबल से निर्बल को अच्छा समझते है। उसका कहना है कि ऐसे दर्शनो की ईजाद हमेशा गुलाम किया करते है जो अपने ऊपर चढे हुए मालिको से मुक्ति पाना चाहते हैं तथा इन धर्मों का अनुसरण बकरियाँ करती हैं जो बाघों को शाकभोजी बना कर स्वय उनकी दष्ट्राओ की चोट से बचना चाहती हैं। नीत्शे के कोष मे पुण्य के मानी शक्ति के हैं तथा पुण्यवान वह उन्ही लोगो को समझता हैं जो शक्तिशाली हैं। ईसाई और बौद्ध-धर्मों के आचरण-विधान (Ethics) को वह गुलामो का आचरण-विधान कहता था और जीवन की केवल वही फिलासफी उसे मान्य थी जो मनुष्य को शक्तिशाली तथा आक्रमणशील बना सके—वह नहीं जो उसमे पुण्य और विनयशीलता के नाम पर दुर्बलता एव दरिद्रता को प्रेरित करती हो। वैयक्तिकता का घोर प्रेमी होने के कारण नीत्शे प्रजासत्ता का द्रोही था। प्रजासत्ता के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि कोई भी व्यक्ति अपने गुणो की विशिष्टता के अनुरूप किसी विशेष लाभ या मर्यादा का दावा न करे। इसीसे वह कहा करता था कि प्रजासत्ता बिलकुल ही निन्द्य वस्तु है; क्योकि इसकी स्वीकृति से औसत से बडे मनुष्य के विकास मे बाधा पड़ती है। नीत्शे की कल्पना का पुरुष अतिमानव (Superman) है जो सामाजिक समानता के साधारण नियमो से परे है एवं जिसकी योग्यता और मर्यादा का माप उसी दण्ड से नहीं किया जा सकता जिससे साधारण मनुष्यो की योग्यता मापी जाती है। मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता के सिद्धान्त को नीत्शे नही मानता। उसके हृदय के सभी ऊँचे भाव केवल उनके लिए सुरक्षित हैं जो तेजस्वी एवं जाज्वल्यमान हैं। जो लोग दुर्बल एवं दीन हैं, उनके निमित्त नीत्शे के पास घृणा को छोड़कर और कोई उपहार उपलब्ध नही।

प्रत्येक देश मे जब कोई प्रबल दार्शनिक अपना काम कर जाता है, तब वहाँ उसी के अनुरूप कर्मठ नेता अवतार लेते हैं। जमाने से यही होता आया

है। पहले बुद्धदेव हुए, तब अशोक। पहले रूसो हुआ, तब रोबसपियर। पहले मैजिनी हुआ तब गेरीवाल्डी। पहले नीत्शे हुआ, तब हिटलर, और, उसी प्रकार, हिन्दुस्तान मे भी, पहले इकबाल हुए तब जिना। कई स्थलो पर इकबाल ने सफाई दी है कि वे नीत्शे के अन्धभक्त नही है। एकाध कविताओ मे भी उन्होने नीत्शे के कुछ सिद्धान्तो का खण्डन किया है। नीत्शे से अपने को भिन्न और स्वतन्त्र दिखाने की चिन्ता केवल इकबाल को ही नही थी; आज भी उनके तमाम प्रशसक उन्हे नीत्शे से बिलकुल अलग ले जाने की कोशिश करते हैं। और, यह सब, शायद, इसलिए कि नीत्शे को नास्तिक होने की बदनामी मिली हुई है। अन्यथा हम देखते है कि नीत्शे के सिद्धान्त—केवल सार-रूप से ही नही, बल्कि पूरे के पूरे—इकबाल की कृतियो मे परिव्याप्त हैं। इकबाल का वासस्थान अध्यात्म की चोटी पर नही, प्रत्युत राजनीति के व्यूह के बीच था। वे मुसलमानो को धर्म सिखाने के लिए नही, बल्कि ससार मे उन्हे विजय दिलाने को आये थे। और, चूँकि सच्चे अर्थो मे वे धार्मिक नेता नही थे, इसलिए विजय की राह उन्होने खड्गवाद के भीतर से बनाई—करुणा, प्रेम और क्षमाशीलता के बीच से नही। मौलाना रूमी को उन्होने अपना गुरु कहा है, किन्तु रूमी से भी उन्होने भक्ति और अपरिग्रह की नही, मनुष्य की ज्वलन्त वैयक्तिकता की ही विरासत ली। अरबी और फारसी के अनेक सूफी सन्तो मे इकबाल ने अपना गुरु रूमी को चुना, इसका कारण यह नही था कि रूमी मे परम सत्ता के लिए अन्य सन्तो की अपेक्षा कुछ अधिक अधीरता थी, बल्कि, कारण यह था कि रूमी सन्त होते हुए भी ससार मे वीरता और तेजस्विता की इज्जत करते थे। जिस खुदी के सिद्धान्त को इकबाल ने प्रसिद्ध किया, वह रूमी की कविताओ मे भी यत्र-तत्र विद्यमान मिलता है। अपनी एक कविता मे मौलाना रूमी कहते है— "यदि तू दाने का एक कण बनकर रहेगा, चिडिया तुझे चुग जायगी। यदि तू फूल बन कर रहेगा, बच्चे तुझे तोड लेगे। इसलिए, दानो को छिपाकर खुद जाल बन जा— फूल को हृदय मे मूँद ले और वह घास बनकर फैल, जो अट्टालिकाओ के मस्तक पर खेलती है।"

महात्मा जलालुद्दीन रूमी प्रेममार्गी सन्त थे। किन्तु, वे जीव की स्वतन्त्र सत्ता मे विश्वास करनेवाले थे। लौकिक पक्ष मे वे व्यक्ति की स्वाधीनता के उन्नायक थे। मनुष्य के स्वभाव और उसकी सम्भावनाओ के विकास की व्याख्या उन्होने ऐसी निर्भीकता से की है कि कुछ लोग उन्हे नीत्शे-जैसे स्वाधीन चिन्तको का अग्रदूत भी मानते हैं। अपने समय और अपनी परम्परा के वे शायद अकेले कवि हैं जिसने सतत सघर्ष को मनुष्य का भाग्य कहा है। इकबाल का जीवन-दर्शन रूमी और नीत्शे के इन्ही सिद्धान्तो पर अवस्थित है। इस्लाम की तात्कालिक आवश्यकता एव अपनी अनुभूति के अनुसार उन्होने इन सिद्धान्तो मे काट-छाँट

भी की। जहाँ आवश्यक समझा, उनका विकास भी किया और ऐसा करके उन सब पर अपनी मौलिकता की मुहर लगा दी। किन्तु, उनके विचारो की दिशा वही है जो नीत्शे की थी तथा जीवन, व्यक्ति और समाज को देखने का उनका दृष्टिकोण भी वही है जो नीत्शे का था। जीवन को उन्होने पाचन (Assimilation) की एक प्रगतिशील प्रक्रिया के रूप मे देखा एव व्यक्तित्व के विकास को उन्होने सघर्ष की अवस्था कहा। उनका सदेश है—सघर्ष, सघर्ष और अधिक सघर्ष! जिस वदनसीब को सघर्ष का क्षेत्र प्राप्त नही है, उसे वे ऐसी भूमि खोजने के लिए प्रेरित करते है, क्योकि उनका दृढ विश्वास है कि सघर्ष अगर कायम न रहा तो जीवन मे शिथिलता आ जायगी और शिथिलता के मानी है मृत्यु। ध्यान देने की बात है कि उनका कहना था कि इस्लाम का सबसे बडा दुर्भाग्य यह हुआ कि उसके अनुयायियो ने साम्राज्य स्थापित किये। निर्विघ्न साम्राज्य सघर्ष के अभाव का द्योतक है और इसी के कारण इस्लाम खोखला हो गया। सघर्ष से विहीन जीवन की वे कल्पना भी नही करते और न उसके अस्तित्व मे विश्वास ही करते हैं। जीवन के भीतर जो एक पाचन की प्रक्रिया है, वह सघर्ष मे ही कायम रहती है। आदमी की असली जिन्दगी वह है जो सघर्षों के बीच सब को पराजित करती हुई, सबको लीलती हुई—केवल 'मैटर' को ही नही, 'स्पिरिट' को भी आत्मसात् करती हुई—आगे जा रही है। जीवन के अभियान का क्षेत्र केवल इसी लोक तक नही, परलोक तक भी विस्तृत है और उनके लक्ष्य के दायरे मे देवता ही नही, परमात्मा भी आते हैं। सच्चे मुसलमान का लक्षण बताते हुए एक जगह वे कहते हैं—

> जँचते नहीं कजश्को-हुमाम इसकी नजर में,
> जिबरीलो-सराफील का सैयाद है मोमिन। *

इसी प्रकार, अपनी एक फारसी-कविता मे वे कहते है—"हिम्मतवाले मर्द, अपना जाल अगर कही फेकना हो तो उसे खुद परमात्मा पर फेंक।"

नीत्शे के समान ही, इकवाल भी मनुष्य की वैयक्तिकता के अनन्य उपासक हैं। जहाँ जाने से अपनी इकाई के डूब जाने का भय हो, वे ऐसी जगह को दूर से ही प्रणाम करते हैं। सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को वे एक पल के लिए भी नही मानते और न इसकी स्वीकृति मे ससार का कल्याण ही देखते हैं। उनकी दृष्टि मे सम्पूर्ण जीवन इकाइयो मे विभक्त है। मनुष्य अपनी इकाई को जितना ही आत्मतन्त्र एवं औरो से भिन्न बनाता है, वह उतनी ही पूर्णता को प्राप्त होता है। इसीलिए, उनका उपदेश है कि अपनी वैयक्तिकता की रक्षा करो एव तुम्हारी

---

* कजश्को-हुमाम = गौरैया और फुदकी-जैसे छोटे पक्षी। जिवरील ईश्वरीय शक्ति सन्देशवाहिनी सराफील = प्रलयङ्कर शक्ति (दो फरिश्तो के नाम)।

इकाई के साथ तुम्हारे वातावरण का जो सघर्ष चल रहा है, उसमे पराजित होकर विलीन मत हो जाओ। धर्म की रहस्यात्मकता और राजनीति की स्थूलता के मिलन से जो विचित्रता पैदा हो सकती है, वही विचित्रता उनकी फिलासफी की रीढ है। नीत्शे के अतिमानववाले सिद्धान्त को उन्होने मोमिन (सच्चे मुसलमान) पर लागू कर दिया और बिना इस बात की चिन्ता किये ही कि ससार क्या कहेगा, उन्होने यह मान लिया कि ससार का सबसे सच्चा धर्म इस्लाम, उसका श्रेष्ठ सघ मुस्लिम-राष्ट्र एव मानवता का सबसे बडा रहनुमा (मार्गदर्शक) मुस्लिम-मिल्लत है। अपनी कल्पना मे उन्होने समस्त ससार के मुस्लिम राष्ट्रो का एक संघ बनाया जिसकी राजधानी काबा मे थी जिसके सभी सदस्य एक ईश्वर के प्रेम-सूत्र मे आबद्ध थे। 'रमूज़-बेखुदी' नामक अपने फारसी-काव्य मे उन्होने इसी मुस्लिम-मिल्लत की महिमा गायी है। बृहत्तर इस्लाम की जो तस्वीर उन्होने बनायी थी, हिन्दुस्तान के बाहर, उसकी कद्र बहुत ज्यादा नही हुई, किन्तु, हिन्दुस्तान के किंकर्त्तव्यविमूढ मुसलमान उसपर टूट पडे। बात यह है कि जातियाँ जैसे दर्शन को ग्रहण करती हैं, उनके कर्तव्य भी वैसे ही हो जाते हैं। जातीय दर्शन वह उत्स है, जहाँ से कर्त्तव्य का निर्झर जन्म लेता है निवृत्तिवाद के अतिसेवन ने हिन्दुओ का जो हाल कर रखा है, वह सर्वविदित बात है। बहुत अच्छा होता कि पाश्चात्य देशो के लोग भी सच्चे ईसाई बने रहते। किन्तु, ईसामसीह की जगह उन्होने कचन को बिठला दिया। परिणाम यह हुआ है कि वे अपने साथ ही समस्त ससार को ले डूबने को तैयार हैं। इकबाल ने व्यक्ति के इकाईवाले सिद्धान्त से मुस्लिम-सम्प्रदाय की इकाई का सिद्धान्त निकाला और उसकी परिणति इतर मानव जाति से भिन्न ससारभर की एक मुस्लिम-मिल्लत मे कर दी। किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति कोई साधारण बात नही थी। हिन्दुस्तान मे और हिन्दुस्तान के बाहर, दोनो ही जगहो पर, अग्रेज विराजमान थे। मुस्लिम देशो के चारो ओर कठिन खड्गवाले शासक पहरा दे रहे थे। ये शासक स्नेह से पराजित नही हो सकते थे और इकबाल को स्नेह एव सौहार्द का मार्ग पसन्द भी न था। फिर उनकी कल्पना का हरएक मुसलमान नीत्शे की कल्पना का अतिमानव (सुपरमैन) भी था। अतएव उन्होने मुसलमानो के भीतर, पौरुष के नाम पर, एक प्रकार की बर्बरता को भरना शुरू किया। मुसलमानो को उन्होने उकाब और शाही (गरुड और बाज) कहा—वे ही उकाब और शाही, जो पक्षियो का खुलकर शिकार करते हैं। इकबाल नीत्शे से सीख आये थे कि दुनिया मे इज्जत के साथ जीना हो तो शिकार नही, शिकारी बनकर जियो। अब वे इस उपदेश को मुसलमानो पर उतार रहे थे। उन्होने यह भी समझ लिया था कि हिन्दुस्तान की सल्तनत अब फिर मुसलमानो के हाथ नही आ सकती है। फिर उन्हे यह भी मालूम था कि साम्राज्यजन्य विलासिता एव सघर्षहीनता से ही भारतवर्ष

मे इस्लाम का पतन सम्भव हुआ था। अतएव उन्होने मुसलमानों को उपदेश दिया—

> उक़ाबी रूह जब बेदार होती है जवानों में,
> नज़र आती है उसको अपनी मंज़िल आसमानों में,
> नहीं तेरा नशेमन क़स्रे-सुलतानी की गुम्बद पर,
> तू शाहीं है, बसेरा कर पहाड़ो की चट्टानों में।*

शाही उनकी कल्पना के पुरुष का प्रतीक हो गया। वे इन शिकारी पक्षियो के गुणो का वर्णन कुछ इस तन्मयता से साथ करने लगे जिससे मुसलमान उनकी ओर आकृष्ट हो एव उनके गुणो को सीखे। यो तो वे इस्लाम के आरम्भिक इतिहास की व्याख्या के सिलसिले मे ही यह बता आये थे कि ये गुण मुसलमानो के सनातन भूषण रहे हैं। कभी तो उनका यह शाही, आत्मपरिचय देता हुआ कहता है—

> हुमामो-कबूतर का भूखा नहीं मैं, कि है जिन्दगी बाज़ की ज़ाहिदाना,
> झपटना-पलटना, पलट कर झपटना, लहू गर्म रखने का है इक बहाना।*

और कभी वे स्वय ही, घर के बूढे उक़ाब की हैसियत से, अपने बच्चो को उपदेश देते हैं—

> जो कबूतर पर झपटने में मज़ा है ऐ पिसर,
> वह मजा शायद कबूतर के लहू में भी नहीं।*

आज की दुरवस्था मे ऐसा दीखता है, मानो, इकबाल की ये पक्तियाँ इन्ही दिनों के लिए भविष्यवाणी के तौर पर लिखी गई हो—मानो उन्होने अपने शाही और उकाबो को पहले से ही आगाह कर रखा हो कि इस 'जंगल' मे अगर चैन से रहना हो तो इर्द-गिर्द के 'कबूतरो' पर अकारण भी झपटते रहो, झपटते रहने से जहाँ तुम्हारी रगो का खून गर्म रहेगा, वहाँ ये 'कबूतर' भी तुम्हारे रोब मे रहेगे।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, इकबाल उन सभी आदर्शों से दूर होते गये जिन्हे भारतीय राष्ट्रीयता अपना रही थी। वे मुसोलिनी की प्रशसा में कविता लिखते थे और, प्रायः, हर चीज की टीका फैसिस्ट दृष्टिकोण से करते थे, इधर आकर वे किसानो और मजदूरो की ओर भी मुखातिब हुए थे; किन्तु आश्चर्य की बात है कि एक पूरी नज्म (कविता) उन्होने केवल 'पजाब के दहक़ान' से

* उक़ाब = गरुड-जाति का एक शिकारी पक्षी, बेदार = जाग्रत। नशेमन = नीड, घोसला। क़स्र = महल। शाही = 'बाज' पक्षी।

* हुमाम = एक छोटा पक्षी। ज़ाहिदाना = साधुओं-सी पवित्र।

* पिसर = बेटा।

कही है। जब देश मे प्रजासत्ता की आवाज बुलन्द होने लगी तब उन्होंने जमहूरियत (प्रजासत्ता) की नीत्शेनुमा टीका करते हुए लिखा—

इस राज़ को एक मर्दे फिरंगी ने किया फाश,
हरचन्द कि दाना इसे खोला नहीं करते।
जमहूरियत एक तर्जे-हुकूमत है कि जिसमे,
बन्दो को गिना करते हैं, तोला नही करते। *

इसी प्रकार, समानता के सिद्धान्त पर चोट करते हुए उन्होने अन्यत्र कहा है कि 'दो सौ गधों के भेजा से एक मनुष्य का मस्तिष्क नही बन सकता, सम्भव है, यह टुकडा पाश्चात्य प्रजासत्ता पर व्यग्य के रूप मे लिखा गया हो, किन्तु इसका सकेत उस आशका की ओर साफ है जो प्रजासत्ता के प्रति पाकिस्तान के पक्षपातियो के हृदय मे उठती रही है। गांधीजी ने मैत्री और अहिंसा का जो आदर्श भारतवर्ष के सामने रखा वह इकबाल के जीवन-दर्शन के बिलकुल विपरीत था और वे उस पर बराबर चोट करते गये। 'असरारे-खुदी' मे प्लेटो को उन्होंने प्राचीन समय की भेंड कहा तथा उसी पुस्तक मे भेड और बाघ का एक किस्सा गढकर उन्होने अहिंसा और दया के सिद्धान्त पर गहरे वार किये।

जब भारतवर्ष गांधीजी के नेतृत्व मे अहिंसा की लडाई लडकर ससार को चकित चमत्कृत कर रहा था, तब वे लिख रहे थे—

ऋषि के फाकों से टूटा न बरहमन का तिलिस्म
असा न हो तो कलीमी है कारे-बेबुनियाद।*

जब देश मे प्रजासत्ता के लिए बेचैनी बढती जा रही थी तब वे प्रजासत्ता पर ताने कस रहे थे। जब देश की आँखें दिल्ली पर लगी हुई थी, तब वे मुसलमानो का रुख और पच्छिम की ओर फेर रहे थे। और, ज्यो-ज्यो भारतवर्ष अपनी मजिल के करीब आता गया, वे मुसलमानो को लेकर भारतीय राष्ट्रीयता से दूर हटते गये। और जब यह स्पष्ट दीखने लगा कि देश मे किसी प्रकार के स्वराज्य की नीव पडने ही जा रही है, तब उन्होने मुस्लिम-लीग के सभापति की हैसियत से पाकिस्तान के आदर्श की घोषणा कर दी। उस समय कहते हैं, जिना साहब को भी यह आदर्श कवि-कल्पना के समान ही अलभ्य-सा लगा था और

---

* राज=रहस्य। फाश=निरावृत, स्पष्ट। दाना=बुद्धिमान। जमहूरियत=प्रजासत्ता। तर्जे-हुकूमत=शासन का तरीका। बन्दा=भक्त, आदमी।

* फाको=उपवास। तिलिस्म=जादू। असा=लाठी। कलीमी=कलीम उसे कहते हैं जिसकी पहुँच ईश्वर तक हो, अत. कलीमी का अर्थ ऐसे पुरुष का काम। कारे-बेबुनियाद=अस्तित्वविहीन कार्य।

उन्होने हँसकर कहा था कि आखिर इकबाल तो कवि ही ठहरे। किन्तु, कौन जानता था कि इकबाल की कल्पना जिना साहब के ही सिर चढ सत्य बनकर पुकार उठेगी ? आरम्भ मे इकबाल भी जरा पशोपेश मे थे और यदा-कदा उनके मुँह से उनकी कठिनाइयाँ और निराशाएँ भी व्यजित हो जाती थी। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त मे जाकर उन्हे इस बात का भरोसा हो गया था कि उनकी वाणी के बीज पत्थर पर नही गिरे हैं। अपनी एक गजल मे वे बड़ी ही प्रसन्नता के साथ कहते है—

गये दिन कि तनहा था मै अंजुमन मे
यहाँ अब मेरे राजदाँ और भी हैं।*

राजदाँ तो जरूर बढ गये है, समय को अब भी यह लिखना बाकी है कि इकबाल का सपना हिन्दुस्तान की आकस्मिक विपत्ति है अथवा उसकी किस्मत की कोई अटल लकीर।

* तनहा=अकेला। अजुमन=महफिल। राजदाँ=रहस्यज्ञाता।

यह लेख सन् १९४६ मे लिखा गया था। किन्तु, देश के दुर्भाग्य से कवि इकबाल की वाणी सत्य हो गयी।

स्वतंत्रता के बाद

स्वतन्त्रता के युद्ध की समाप्ति के साथ भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण युग समाप्त हो गया है और आज हम जिस काल मे खडे हैं, वह सचमुच ही, एक नवीन युग का आरम्भिक काल है। सघर्ष और आक्रोश, नारे और चीत्कार तथा धूलि और धुंए से ध्वनित एव आच्छादित एक वायुमडल छूटकर हमारे पीछे रह गया है। पीडाएँ और अतृप्त कामनाएँ तो आज भी हमारे साथ हैं। किन्तु, अपने समस्त अभावो को लेकर हम काल के एक दूसरे क्षेत्र मे पहुँचे हुए है, जहाँ दायित्व को छोडकर कोई और बन्धन नही तथा जिम्मेवारियो को छोडकर दूसरी जजीर नही है। यहाँ के वातावरण में एक गूंज है, जिसे केवल वे ही सुन सकते हैं, जिनकी श्रुतियाँ चैतन्य तथा जिनका हृदय जागरूक है। जिन्होने भी इस आवाज को सुना है, वे जानते हैं कि स्वाधीनता की रक्षा और पालन ही कठिन होता है, उसे प्राप्त करना नही।

आज जो अवस्था भारतीय जन-समूह की है, वही दशा उनके साहित्य की भी व्याप रही है। पिछले वर्षो मे राजनीति से उपेक्षित और तिरस्कृत होकर भी साहित्य ने जनता का साथ दिया, मगर, आज वदली हुई परिस्थिति मे वह भी ठिठक कर सोच रहा है कि आगे की दिशा कौन-सी है। जैसा कि लेविस ने योरोप के साहित्यकारो के विषय मे लिखा है, भातीय साहित्यकार भी दो विश्वो के सन्धिस्थल पर खडा होकर अपने हृदय का मन्थन कर रहा है। एक तो वह विश्व है, जिसे ध्वस्त करके हम आगे वढ जाना चाहते हैं और दूसरा वह है, जो अभी कल्पना से उतर कर जमीन पर खडा ही नही हुआ है। हमारी कठिनाई का कारण यह भी है कि पुरानी दुनिया के भस्मावशेष मे से अपने मूल्यवान उपकरणो को चुनकर हम अपने साथ ले लेना चाहते हैं और हमारी अभिलाषा है कि हम अपने लिए जो नया महल तैयार करें, उसमे इन उपकरणो को भी यथास्थान खचित कर दें। मगर, पुरानी दुनिया में जो आग लगी हुई है, उसके शमित होने पर क्या वचेगा और क्या नही, इसका हमे ठीक ज्ञान नही है, और न हम यही जानते हैं कि आनेवाले विश्व मे प्राचीन विश्व के किन उपकरणो के उपयोग की हमे आजादी रहेगी।

हमारे देश मे यह सघर्ष, प्राचीनता और नवीनता के सघर्ष से अधिक, नवीनता की ही दो कल्पनाओ के वीच के सघर्ष का रूप धारण करता जा रहा है। केवल भारतवर्ष मे ही नही, प्रत्युत, समस्त ससार मे मनुष्यमात्र का चरम लक्ष्य और विकास वैयक्तिक मुक्ति की प्राप्ति समझा जाता था। आज से पहले प्रत्येक धर्म और प्रत्येक देश के लोग समझते थे कि मनुष्य का अन्तिम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति

है और उसी के लिए किया जानेवाला प्रयास मानस का सब से बडा प्रयास है। भारतवर्ष मे तो इस भावना का इतना अधिक विकास हुआ कि ब्रह्मविद्या सभी विद्याओ से श्रेष्ठ तथा आत्मज्ञान सभी ज्ञानो से ऊपर माना जाने लगा। इसी प्रकार, मुसलमानो और क्रिस्तानो के बीच भी वे ही लोग सबसे अधिक पूज्य समझें जाते रहे, जो अपनी आत्मा की पवित्रता के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयास करते थे। यह बात बहुत दिनो तक चलती रही; और तब विज्ञान आया, जिसने मनुष्य की बुद्धि को सत्य के उस रूप की ओर उन्मुख किया, जो गणित तथा स्थूल प्रमाणो से सिद्ध किया जा सकता था। मनुष्य ने धीरे-धीरे यह अभ्यास प्राप्त किया कि सत्य वही है, जो मानवीय तर्कों से ज्ञान के नानाविध स्थूल साधनो और प्रमाणो से सिद्ध किया जा सके। इनके अतिरिक्त, अन्य अनुभूतियो के माध्यम से जिस सत्य की उपलब्धि होती है, वह सत्य सिर्फ काल्पनिक हो सकता है, वास्तविक नही। विज्ञान ने अपनी काठ की उँगलियो से प्रत्येक तत्त्व को छू-छूकर उसकी सचाई की जाँच करनी शुरू की। परिणाम यह हुआ कि ताराओं पर बैठनेवाली कविता विज्ञान को देखते ही वहाँ से उड गयी और सध्या तथा ऊषा के आलोक से विस्मय का सचार कम होने लगा। विज्ञान स्वय तो खगोल मे आँखें गडाकर एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र की दूरी का हिसाब निकालता रहा, किन्तु, उसका प्रभाव मनुष्य की दृष्टि को नीचे ले आनेवाला सिद्ध हुआ। और जब मनुष्य की दृष्टि नीचें पृथ्वी पर आई, तब उसने समाज मे फैले हुए वैषम्य को देखकर सोचा कि क्या इतनी विषमताओ और अनाचारो के होते हुए भी कोई यह दावा कर सकता है कि वह ईश्वराराधन मे इसलिए लगा है चूँकि धरती पर उसके करने योग्य कार्यों का अभाव था। मनुष्य मे इस नवीन जिज्ञासा के जन्म लेते ही, ईश्वर और धर्म की ओर से उसकी रुचि फिरने लगी तथा वह इस निष्कर्ष के समीप जाने लगा कि मनुष्य का सर्वोत्तम कर्त्तव्य यह नही है कि वह विश्व से विमुख होकर ईश्वराराधना मे जा लगे; बल्कि, यह कि ससार मे फैली हुई अनीतियो का विरोध करके वह अधिक-से-अधिक मनुष्यो को सुखी बनाने का प्रयत्न करे। इस भावना की परिणति कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो मे हुई जिनका अन्तिम निचोड यह है कि मोक्ष व्यक्ति का नही, बल्कि समाज का होना चाहिए।

मानवता की सभी समस्याओ पर गवेषणापूर्वक विचार करके कार्ल मार्क्स ने जो निदान और हल उपस्थित किया, उससे केवल योरोप ही नही, बल्कि एशिया भी चमत्कृत हो उठा तथा मनुष्यमात्र ने समझा कि दुनिया का आखरी पैगम्बर अब आया है। ससार मे दलितो की सख्या अधिक तथा सुख भोगनेवालो की कम है और यह भी ठीक है कि जो लोग अधिक सुख भोगने के आदी हैं, वे अगर अपनी जेब मे आनेवाले हर पैसे की राह की खोज करें तो उन्हे मालूम हो जायगा

कि ससार मे जो अनीति और शोषण कायम है, उसकी जिम्मेवारी किसी न किसी अश मे हर विलासी मनुष्य पर है। अतएव, शोषितो ने कार्ल मार्क्स को अपना त्राता समझा तथा शोषण से लाभ उठानेवाले लोग उसका नाम सुनकर चौकने लगे।

किन्तु, बातें यही खत्म नही हुईं। मनुष्य ने एक बार आत्मा की उपासना मे शरीर को भुला दिया था। मार्क्स को सामने रखकर जब वह शरीर की सेवा मे जुटा, तब उसकी आत्मा बिलखने लगी और आलोचको ने पूछना शुरू किया कि समाज की मुक्ति क्या शरीर की सेवा और आत्मा के हनन का ही दूसरा नाम है?

और इसी समय, विश्व के रगमच पर महात्मा गांधी का अविर्भाव हुआ, मानो, प्राच्य लोक की सारी परम्परा और सस्कार ने मानवता की समस्याओ को सुलझाने के लिए अपनी तमाम अच्छाइयो को एकत्र करके दुनिया के सामने एक नमूना पेश कर दिया हो। गांधीजी ने आते ही कहा, शरीर ठीक है और आत्मा भी ठीक है। शरीर को रोटी नही मिले तो आत्मा ही क्या कर सकेगी? और भूखो के सामने तो ईश्वर को भी रोटी तथा रोजी को छोड कर किसी और रूप मे प्रकट होने की हिम्मत नही हो सकती। मगर मुक्ति बराबर आत्मा की होती है, यद्यपि उसे प्राप्त करने के पहले शरीर की मुक्ति भी परमावश्यक है। यानी मुक्ति तो व्यक्ति की ही हो सकती है, किन्तु, उसकी प्राप्ति का साधन समाज को मुक्त करने का प्रयास है। मनुष्य अपनी मुक्ति के लिए जो भी तपस्याएँ कर सकता है, वे तपस्याएँ समाज की मुक्ति के लिए ही की जानी चाहिये। क्योकि आज समाज की ही मुक्ति से मनुष्य की वैयक्तिक मुक्ति सभव हो सकती है।

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त और गांधीवाद के बीच खडा भारतवर्ष यह सोच रहा है कि वह किधर जाये। कुछ लोगो का विचार है कि ये दोनो ही परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं तथा उनसे एक दूसरे का खडन होता है। संभव है कई अशो मे यह दलील ठीक हो। किन्तु, जहाँ तक मानवता को शोषण से बचाने का सवाल है, मुझे दोनो ही सिद्धान्तो की दार्शनिकता बहुत कुछ समान दीखती है। क्योकि कार्ल मार्क्स और गांधीजी मे से दोनो ही व्यक्ति दोहन और पूँजीवाद के खिलाफ हैं, और दोनो ही उस समाज की कल्पना करते है जिसमे एक मनुष्य भी अभाव-पीड़ित या विपन्न नही रहेगा। फर्क यह है कि समत्व-विधान के लिए जहाँ मार्क्स का यह कहना है कि जो ऊँचे हैं उन्हे ठोक कर नीचे करो वहाँ गांधीजी कहते हैं कि जो लोग भी नीचे हैं, उन्हे उठाकर ऊपर ले जाओ।

अक्सर, गांधीजी आत्मा के प्रतीक और मार्क्स शरीर के प्रतिनिधि समझ लिये जाते हैं। किन्तु, गांधीजी के पक्ष मे यह उक्ति यथेष्ट नही है। वे सिर्फ आत्मा के ही प्रतीक नही, शरीर के भी पालक और त्राता है। बात यह है कि यूरोप तथा

भारतवर्ष की आत्माओ के मौलिक भेदो पर जोर देते-देते हम इस भ्रम मे पड गये है कि भारतवर्ष मे उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक विलक्षणता यूरोप की विशिष्टताओ की विरोधिनी होती है। यह ठीक है कि भारतवर्ष अनादि काल से अदृश्य तथा अगोचर की आराधना करता रहा है तथा यूरोप ठीक उसी मात्रा मे गोचर अथवा दृश्य को पूजता रहा है। हम शान्ति के कामी तथा यूरोप शक्ति का पुजारी रहे है। हमारी शक्ति अन्तर्मुखी और यूरोप का उत्साह वहिर्मुख है। हम जिस जोर से मोक्ष की कामना करते रहे हैं, यूरोप उसी आतुरता के साथ राजनीतिक मुक्ति के लिए प्रयास करता रहा है। हम पारलौकिक सुखो की आशा मे सभी लौकिक सुखो पर लात मारते रहे हैं। किन्तु पाश्चात्य देशो के लोग पारलौकिक सुखो को अनिश्चित मानकर बराबर इस प्रयत्न मे रहे हैं कि वे लौकिक सुखो की तह मे चले जायें। सक्षेप मे, हम कल्पना के स्वर्ग की आशा मे मिट्टी की उपेक्षा करते रहे हैं और यूरोपवाले मिट्टी को ही स्वर्ग बना डालने की चेष्टा मे तल्लीन रहे हैं। किन्तु, साथ ही, यूरोप हमारी ओर तथा हम यूरोप की ओर आशा से भी देखते रहे है।

इस विरोधाभास को देखकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि यूरोप की सभ्यता सर्वथा तिरस्कार की वस्तु नही, क्योकि मैं भी उस ईश्वर मे विश्वास करना नही चाहता जो मरने के बाद मुझे शान्ति तो दे सकता है, किन्तु, जीवन मे मुझे रोटी नही दे सकता। स्पष्ट ही, स्वामी विवेकानन्द भारतीय अध्यात्म का सम्बन्ध उस वस्तु के साथ जोडना चाहते थे, जो हमारे पास नही थी—जो, शायद, हमारे पूर्वजो के पास भी नही थी। उन्होने धर्म की गोद मे ऊंघते हुए भारतवर्ष को जगाने के लिए शखनाद किया और कहा कि तुम्हे जीवन मे स्पन्दन भरनेवाली प्रेरणा की जरूरत है, तुम्हे शक्ति का वह विद्युत्प्रवाह चाहिये जिससे धरती जवान रहती है और जिससे यूरोप के अग-अग मे चेतना और स्वास्थ्य का सौन्दर्य छलक रहा है।

विवेकानन्द की वाणी मे भारतीय अध्यात्मवाद ने एक नया घोष सुना, और जब गाँधीजी आये, तब उन्होने अपने कर्म-कलाप के द्वारा मिट्टी और आकाश के इस मिलन को साकार करना आरम्भ किया। गाँधीजी सिर्फ आत्मा के प्रतीक वनकर ससार से विदा नही हुए हैं। उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त मार्क्स के शोषण-विरोधी सिद्धान्तो का पर्याय है तथा उनकी शान्ति और प्रेम की कल्पना ससार को सभी मलो से मुक्त करके उसे शान्त एव कोमल वनाने की योजना है। जो मनुष्यता को सभी प्रकार के दाहो से मुक्त करना चाहते हैं, जो मनुष्यो को सभी अभावो से स्वच्छन्द करके समाज को सुन्दर वनाना चाहते हैं; उन्हे गाँधीजी से भी उतनी ही प्रेरणा मिल सकती है, जितनी मार्क्स तथा एञ्जिल से। और देश के जो भी चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि गाँधीवाद की एक पूरी

खुराक से समाजवाद के बल की वृद्धि हो सकती है, वे सत्य से जरा भी दूर नही हैं।

देश के सामने जो सपने मँडरा रहे है, जो कल्पनाएँ तैर रही है, उनकी प्राप्ति गांधीजी करवा सकते थे। मगर, अफसोस कि हमने उन्हे खो दिया। किन्तु, साहित्य के दर्पण मे इन स्वप्नो की जो छाया पड रही है, वह हमे जागरूक और चैतन्य रख सकेगी, इसमे कोई सन्देह नही।

जब तक गांधीजी जीवित थे, वे हमारे सब से बडे नेता होने के साथ, हमारे सब से बडे कवि और चिन्तक भी थे। किन्तु, उनके शरीरपात के साथ उनका कवित्व और नेतृत्व, दो श्रेणियो के लोगो मे बँट गया है और यह कहना कठिन है कि दोनो मे से किस श्रेणी के लोगो पर पडनेवाला भार अधिक गुरुतर है। नेतृत्व की विरासत ढोनेवाले लोग, चाहे कितने ही विशाल और महान् क्यो नही हो, किन्तु, भविष्य के गह्वर मे ऊँचा सिंहासन तो उन्ही का रहेगा, जो गांधीजी के चिन्तन और कवित्व के उत्तराधिकार का भार वहन करने को तैयार हो। यह मैं इसलिए भी कहता हूँ, चूँकि हर मनुष्य का नाम और स्थूल व्यक्तित्व उसके विचारो की अपेक्षा छोटा होता है। और दुनिया की किस्मत का असली लेखा राजनीति के मैदान मे नही, बल्कि, साहित्य के कुञ्ज मे लिखा जाता है। कवि की कल्पना और अवतार के चरित्र मे से कौन अधिक सत्य है, यह विवाद बहुत प्राचीन है तथा अब तक भी इसका सम्यक् निपटारा नही हो सका है। हम तो सिर्फ इतना जानते है कि अयोध्या की राजपुरी मे राम के लिए जो महल बना था, वह कब को ही भस्मसात् हो गया, किन्तु, वाल्मीकि ने अपने हृदय मे उनके लिए जो कुटी बनायी थी, वह आज भी कायम है तथा उसमे प्रवेश करते ही हम राम को पूर्ण-रूप से जीवित एव चैतन्य पाते हैं। और इस जिज्ञासा का समाधान कौन करेगा कि गीता के श्लोको को भगवान कृष्ण ने व्यास के मुख मे रखा अथवा व्यास ने भगवान कृष्ण के मुख मे?

साहित्य स्वप्नो को रूप तथा सन्देशो को अमरत्व प्रदान करता है। शून्य मे मँडरानेवाले सपने सबसे पहले साहित्यकार को दिखाई पडते है। हवा मे गूंज-नेवाली अस्पष्ट ध्वनियाँ सबसे पूर्व चिन्तको को सुनायी पडती है। वर्त्तमान की स्थूलता पर जो क्रीडाएँ हो रही हैं, उनमे सभी भाग ले सकते हैं; किन्तु, स्थूलता के भीतर प्राणो का जो गुञ्ज चलता है, उसे तो वें ही सुन सकते हैं जिनकी श्रुतियाँ सृष्टि के आन्तरिक तारो से लगी हुई हो।

भारतवर्ष के आकाश मे जो अनेक छायाएँ घूम रही हैं, उन्हे जाँचने और परखने के लिए हमे पूर्णरूप से जाग्रत और चैतन्य साहित्यकारों की आवश्यकता है। आज की शंकाओ और हिलती हुई आस्थाओ को शमित एवं स्थिर बनाने का काम उस साहित्यकार के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है जो भविष्य के उपवन मे

खिलनेवाले फूलो का संवाद आज के मनुष्य को सुना सके। हृदय-हृदय मे जो एक उत्साह है, प्राण-प्राण मे जो एक अनिर्वचनीय उमंग है, तथा जन-जन मे जो एक मूक आशा, किलोल कर रही है; उसकी परिभाषा साहित्य मे लिखी जायगी, राजनीति और विज्ञान मे नही! बुद्धि और तर्क मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करते हैं; कर्म की प्रेरणा तो हमेशा हृदय से ही आती है। हमारे सामने जो सपने घूम रहे है, उन्हे मूर्त्त रूप देने के लिए मनुष्य को प्रेरित करना लेखको और कवियो का काम है।

वे दिन चले गये, जब साहित्य वैयक्तिक प्रेम और विरह के हलके गाने गाकर समाज मे आदर का अधिकारी समझा जा सकता था। आज उसे वैयक्तिकता से ऊपर उठकर समूह के सपनो, समूह की आकांक्षाओ को चित्रित करना होगा। जिस प्रकार, वैयक्तिक मोक्ष की जगह सामाजिक मुक्ति ने ले ली है, उसी प्रकार, साहित्य मे भी वैयक्तिक भावनाओ से ऊपर सामूहिक आवेगों को प्रधानता मिलनी चाहिये। और जिस प्रकार, समूह की मुक्ति को गाँधीजी ने वैयक्तिक मोक्ष का साधन माना था, उसी प्रकार, हमे वैयक्तिक अनुभूतियो को भी सामूहिक अनुभूति के माध्यम से लिखना होगा। व्यक्ति और समूह के बीच जो यह द्वन्द्व छिड़ा है, उससे भारतवर्ष के ही नही, प्रत्युत अखिल विश्व के साहित्यकार कुछ विचलित-से हो रहे है। किन्तु, यह विचलित होने की बात नही है, साहित्यकारों के बीच सबसे बड़ी सफलता तो हमेशा उन्ही को मिली, जो अपनी अनुभूतियो को उस समाज की अनुभूति से मिलाकर लिखते थे, जिसमे उनका जन्म और विकास हुआ था। सक्रमणशीलता साहित्य का सबसे बडा गुण है। और सक्रमणशीलता मे वृद्धि भाषा की सफाई अथवा काव्य के उस गुण से भी नही होती, जिसे हम "प्रसाद" कहा करते हैं। वह तो कवि की विशिष्ट प्रकार की मनोदशा से उत्पन्न होती है। वह तो इस बात पर अवलम्बित रहती है कि कवि अपनी बात को अधिक-से-अधिक लोगो तक पहुँचाना चाहता है या नही। जो अधिक-से-अधिक पाठको के हृदय को छूना चाहता है, जो समय के अधिक-से-अधिक विस्तार मे झकार उत्पन्न करना चाहता है, वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को भी समूह की अनुभूतियो के साथ अवश्य विजडित करेगा। और यह कार्य उतना कठिन भी नही, जितना कि लोग समझ लेते हैं। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक खण्ड है और जो अनुभूति एक के हृदय मे उत्पन्न होती है, उसे सभी रसज्ञो की समझ मे आना ही चाहिये। महात्मा तुलसीदास ने रामचरित-मानस की रचना स्वान्तःसुखाय आरम्भ की थी, किन्तु, उनकी प्रत्येक अनुभूति हम मे से प्रत्येक के हृदय मे अपनी झंकार उत्पन्न करने मे पूर्णरूप से समर्थ है। इसका प्रधान कारण तुलसीदास की भाषा अथवा उनकी प्रसन्न शैली नही, प्रत्युत यह बात है कि वे अपनी अनुभूति को सार्वजनिक अनुभूति से मिलाकर लिखना चाहते थे। कविता की कितनी ही परिभाषाएँ युग-युगान्तर से लिखी जाती रही हैं,

समाजवाद के अन्दर साहित्य

लौहपुरी जमशेदपुर के अक मे जैसे स्थल-स्थल पर फूलो की क्यारियाँ बनी हैं और बगल मे पत्थर, हरियाली और पुष्पो के बीच डिमना नाला बहता है, वैसे ही जयप्रकाश जी का व्यक्तित्व चिमनी के धुएँ और मेघो की सजलता का समन्वित प्रतिविम्ब है। वे दिमाग से वैज्ञानिक और दिल से कलाकार हैं। उनकी बुद्धि के महल पर हृदय की लता का प्रसार है और जिस कोने मे बैठ कर वें वैज्ञानिक बुद्धि के औजारो से काम करते हैं, वहाँ जूही की कली और चम्पा के फूल भी झरते हैं।

इधर जब से समाजवादी दल के लोगो ने नव संस्कृति-सघ कायम किया है, तब से मेरे मन मे बराबर यह शका उठती रही है कि आखिर प्रगतिशील लेखक-सघ के रहते हुए इस नये सस्कृति-सघ की क्या जरूरत थी। कौन-सी चीज है जो प्रगतिशील लेखक-सघ मे नही है और नव सस्कृति-सघ मे हमे मिल सकती है ? अथवा प्रगतिशील लेखक-सघ मे कौन ऐसा दूषण है जिसका नव संस्कृति-सघ परिहार करेगा ? साम्यवादी लोग क्रांति की पद्धति से समाज को जहाँ ले जाना चाहते है, क्या समाजवादी नेता चुनाव के रास्ते से वही जानेवाले नही हैं ? फिर भी समाजवादी अपने को साम्यवादियो से भिन्न बतलाते हैं; मगर, भिन्नता की यह रेखा जो राजनीति मे इतनी स्पष्ट है, साहित्य मे तो उसी स्पष्टता से प्रकट नहीं हो सकती। साहित्य समाज के नये आदर्श को प्राप्त करने के लिए जिस शक्ति का क्षरण करता है, वह तो साम्यवाद और समाजवाद, दोनो, के लिए एक समान लाभदायी होगी और जो लोग गाँधी-मार्ग से समता की ओर जा रहे हैं, वे भी चाहे तो, इस शक्ति को समेटकर अपने साथ ले जा सकते हैं। फिर प्रगतिशील लेखक-संघ और नव सस्कृति-सघ के बीच विभाजक रेखा कहाँ पर खीची जा सकती है ?

अतएव, एक दिन सुयोग पाकर मैंने जयप्रकाशजी से इस विषय की चर्चा छेड़ दी और कहा कि आपके नव सस्कृति-सघ को प्रगतिशील लेखक-सघ से अलग समझना सबके लिए आसान नही है। दोनो सघो का नारा है कि हम जन-सस्कृति के निर्माण के लिए आये हैं। प्रगतिशील लेखक-संघ के लक्ष्य और प्रक्रिया के सम्बन्ध मे देश काफी जानकारी प्राप्त कर चुका है, नव सस्कृति-सघ की प्रक्रिया क्या होगी ?

जयप्रकाश जी ने कहा कि सहसा एक सस्कृति को समाप्त करके उसके भस्म पर हम दूसरी सस्कृति की रचना नही कर सकते। संस्कृति मरती नही, वह केवल

रूपान्तरित होती है और जो लोग सस्कृति के बदलने के प्रयास मे है, उनका कार्य केवल इस रूपान्तर की गति को तीव्र बनाना है। हमारे सस्कारो मे जो परिवर्तन हो रहे है, उन्हे सही रास्ते पर ले चलना ही नव सस्कृति-सघ का ध्येय हो सकता है। किन्तु इस ध्येय की प्राप्ति के लिए हम रेजिमेटेशन का आश्रय नही लेना चाहते, क्योकि हम मानते है व्यक्तियो के खण्डन-मण्डन और स्वाधीन चिन्तन से जो शक्ति निःसृत होती है, वह समूह को आगे बढाती है। समाज किधर जाय और उसके कदम किस तरह उठे, इस सवाल पर किसी एक आदमी का जोर नही चल सकता। बल्कि, जितने भी लोग समाज के अग हैं, उन्हे यह सोचने और समझने का पूरा अधिकार है कि उनका समाज किस दिशा की ओर जाय, क्योकि समाज का चलना तो, अन्ततः, उसके अगभूत व्यक्तियो का ही चलना होता है।

उन्होने कहा—"जहाँ तक नव सस्कृति-सघ का सम्बन्ध है, हम इसके मच पर लेखको और कवियो तथा कलाकारो को हाँक-हाँक कर नही लाना चाहते। जीवन की जो समस्याएँ हैं, उन्हे साहित्य और कला के पुजारियो के सामने रख देना सघ का काम है। बाकी काम तो कलाकारो को खुद करना चाहिये। हम चाहते है कि वे स्वय एकत्र होकर इनपर विचार करे। शोषणहीन समाज की कल्पना ऐसी नही है, जिसके प्रति साहित्य और कला मे उत्साह नहीं हो। हम तो यह भी चाहते है कि मूल-प्रेरणा चिन्तक और साहित्यकार ही दे। "देश-विदेश" नामक ग्रन्थ के सुप्रसिद्ध लेखक श्री ऐयूब ने कलकत्ते मे मुझसे कहा कि प्रगतिशील लेखक-सघ मे हम इसलिए जाते है कि कम्यूनिस्ट हमे पूछते हैं। और भी कई लेखको की यही शिकायत है कि नव सस्कृति-सघ उनके प्रचार के लिए उचित क्षेत्र का प्रबन्ध नही करता। मेरा ख्याल है कि प्रचार का लोभ दिखाकर कलाकारो को बुलाना एक गलत काम है और हम यह गलती कभी नही करेगे। अगर आदर्श आपको आकृष्ट नही करता, अगर पद्धति आपमे प्रेरणा नही भरती, तो आप जहाँ है, वही ठीक हैं, क्योकि कलाकार के पाँवो के नीचे अगर विश्वास की जमीन नही हो, तो उसकी तूलिका और लेखनी मे चमत्कार कहाँ से आयेगा?"

मैंने कहा—"तो इसके मानी ये हुए कि आप न तो लेखको का प्रचार करेगे और न लेखक आपके आदर्श का।"

जयप्रकाश जी बोले—"एक तरह से आप ठीक कहते हैं, किन्तु, यहाँ थोडी-सी व्याख्या की जरूरत है। लेखक अपने विश्वास के कारण लिखता है, प्रचार के लोभ से नही। मगर, विश्वास जब प्रबलता से व्यक्त होता है, तब प्रचार तो उसका स्वय होने लगता है। और जिसे आप हमारा आदर्श कहते हैं, वह केवल हमारा ही नही, सारे समाज का आदर्श हैं। हम यह कभी नही चाहते कि कलाकार हमारे प्रचार का साधन बनें। हाँ, लेखको और कवियो को हम सिर्फ

इस बात का ध्यान दिलाना चाहते हैं कि समाज जिस महान् लक्ष्य की ओर चल रहा है, उस लक्ष्य का एक साहित्यिक पहलू भी है और उसे साहित्यकार ही चित्रित कर सकता है । प्रत्येक घटना के दो पक्ष होते है, एक वह जिसे इतिहास अपने यहाँ अकित करता है और दूसरा वह जिसे कवि लिखता है । क्या यह उचित होगा कि इतिहास तो अपने हिस्से का काम करता जाय और कवि उसकी उपेक्षा करे, जो उसके हिस्से का काम है ? और क्या इतिहास को हिलानेवाली घटनाओ की कविता लिखने से कवि के गौरव का हनन होनेवाला है ?"

मैंने कहा—"घटनाओ का जो काव्यपक्ष है, वह तो साहित्य की पूँजी है। भला उसे लिखने मे साहित्यकार को ग्लानि क्यो होने लगी ? यह ठीक है कि समकालीनता को कुछ लोग अल्पायु मानते है, किन्तु, यह तो दृष्टिभेद है। असल मे, ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तो हम काल के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को जीवित तथा चैतन्य पाते हैं । इलियट का कहना है कि अतीत का भी एक अश है, जो वर्त्तमान मे जी रहा है और वर्त्तमान तथा भविष्य दोनो के कुछ-न-कुछ अश अतीत मे विद्यमान हैं । जागरूक कलाकार तो अतीत की घटनाओ की भी अपने समय के अनुरूप ही व्याख्या करता है और जब उसके विषय वर्त्तमान से आते हैं, तब भी वह उनपर इसी भाव से रग छिडकता है, मानो, वे अतीत और भविष्य, दोनों ही से सबद्ध हो। अतएव, वास्तविक विवाद का कारण समकालीनता नही, प्रत्युत, यह आग्रह है कि तुम्हारे चारो ओर हमने जो लक्ष्मण-रेखा खीच दी है, तुम उसके बाहर मत जाओ। यानी आदर्श की ओर उन्मुख रहना यथेष्ट नही है , बल्कि, आदर्श की ओर जाने की जो पगडंडी हमने बना दी है, तुम्हे भी उसी पर चलना होगा । जब ऐसी बातें होने लगती हैं, तब साहित्य उदास हो जाता है और वह सोचने लगता है कि राजनीतिवाले उन गुणो को नही चाहते जो मेरे अपने गुण है, बल्कि, वे मुझे उन्ही बातो तक सीमित रखना चाहते हैं, जो उनके काम की हैं ।"

जयप्रकाशजी बोले—"यह फिर रेजिमेंटेशन ही घूम कर आ गया । चिन्तक लक्ष्मण-रेखा से घबराते हैं, यह कोई अस्वाभाविक बात नही है और जो लोग यह रेखा खीचने का साहस करते हैं, वे भी अपने माथे पर बहुत बडी जिम्मेवारी लेते हैं ; क्योकि क्या ठिकाना है कि यह रेखा मानवता की प्रगति के आगे भी नहीं खिची जा रही है ? प्रजातत्र के सम्यक् विकास के लिए तो यही स्वास्थ्यकर होगा कि उसके जो भी सदस्य सोचने की शक्ति रखते हो, वे समाज की प्रगति के प्रश्न पर अपने-अपने ढग पर सोचें । इसमे कोई हानि नही है ; क्योकि व्यक्तियों के विचार-मथन से जो नवनीत निकलेगा, उसे समाज तो तभी ग्रहण करेगा, जब वह सब के कल्याण के योग्य हो । हम समाज के मस्तिष्क को एक निर्दिष्ट दिशा

की ओर जबरन प्रेरित करें, इससे अधिक गौरवपूर्ण मार्ग तो यह है कि हम व्यक्तियो को जगाकर उन्हे उस ओर जाने को मुक्त छोड दें, जिधर जाने के लिए समाज कदम उठा रहा है। राजनीति और साहित्य के क्षेत्र अलग-अलग और भिन्न हैं तथा उनमे से एक के फर्मूले से दूसरे की प्राप्ति की अपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु, जीवन तो दोनो का समान लक्ष्य है। फिर जीवन का जो ताप राजनीति महसूस करती है, उससे साहित्य कैसे मुक्त रह सकता है? हाँ, उस ताप की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनो ही अपने-अपने ढग पर करेगे।"

मैंने कहा—"अगर ऐसी बात है, तो क्या समाजवादी राज्य मे लेखको के विचारो पर कोई अकुश नही होगा और हम जो चाहेगे, आसानी से लिख सकेंगे?"

जयप्रकाश जी बोले—"चिन्तको को स्वाधीनता देना उनके प्रति कोई रियायत नही है, बल्कि, यह एक आवश्यक धर्म है, क्योकि आदमी के दिमाग से नयी-नयी उपयोगी बातें तभी निकल सकती हैं, जब वह सोचने को स्वाधीन हो। लेखको और कवियो से अच्छी कृतियो की उम्मीद तभी की जा सकती है, जब वे मनचाहे ढग पर उन्हे रचने और सँवारने का सुयोग पा सके। कृतियो को आकर्षक और प्रभावपूर्ण बनाने की जो बातें हैं, उन्हे पार्टी या राज्य तो किसी लेखक मे नही भर सकता। वह शक्ति तो लेखक की अपनी आत्मा मे ही निहित होनी चाहिये। गोर्की ने जब 'मदर' लिखा तब वह कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य नही था। कहते हैं, रूस की किसी एक कवयित्री के गीतो मे उदासी पायी गयी और सत्ताधारियो ने उससे सवाल कर दिया कि तुम्हारी कविता मे निराशा के भाव क्यो हैं। किन्तु, अगर उस कवयित्री के भीतर उदासी की भावना ही प्रधान हो तो वह और क्या लिख सकती है? और अगर उसपर किसी किस्म का दबाव डाला जाय तो इसके दो ही परिणाम हो सकते हैं। एक तो यह कि वह उन भावनाओ को गीतो मे बाँधे जिनकी अनुभूति उसके पास नही है; और दूसरा यह कि वह एकदम चुप हो जाय। मगर, इन दोनो हालतो को हम उस कवयित्री की मृत्यु ही कहेंगे।"

"रह गयी जो चाहे वही लिखने की बात, सो इस मामले मे हम इतना जरूर चाहेगे कि समाजवादी राज्य जिन आदर्शों और सिद्धान्तो की स्थापना और विकास के लिये कायम किया जाय, लेखकगण उन आदर्शों और सिद्धान्तो के प्रतिकूल नही लिखे। और ये आदर्श तथा सिद्धान्त है क्या? समाज के असख्य लोगो की कामनाओ के प्रतिबिम्ब और जनता की आकाक्षाओ के प्रतिरूप ही तो? फिर इनके प्रति साहित्य मे कृपणता अथवा अनुदारता क्यो होगी? मेरा ख्याल है कि प्रत्येक कलाकार अधिक-से-अधिक लोगो के हृदयो को छूना चाहता है और अधिक-से-अधिक लोगो के हृदयो को छूने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी खानगी से खानगी अनुभूतियो को भी सामान्य अनुभूतियो के स्तर पर उतार

कर लिखे। साहित्य, सगीत और कला आज तक कुछ थोडे से लोगो के उपयोग की वस्तु रही है। सच पूछिये तो आज की अवस्था मे यह सम्भव भी नही है कि जनता का विशाल समुदाय कला को घेर कर खडा हो और कलाकार यह महसूस करे कि वह जिनके लिए लिखता है, वे ये ही लोग हैं। पूंजीवादी समाज की एक विशेषता यह भी है कि उसके कलाकार या तो वर्ग-विशेष के लिए लिखते है अथवा अपने आप के लिए। ऐसे समाज मे बाधाओ का ऐसा जाल बिछा रहता है कि वे असली स्वामिनी यानी जनता के पास पहुँच ही नही पाते और उधर जनता निरुपाय होकर अपनी सास्कृतिक प्यास को बुझाने के लिए गन्दे नालो और गड्ढो से पानी पिया करती है। किन्तु, जब पूंजीवाद को हटाकर सच्चे शोषण-हीन समाज की स्थापना कर दी जायगी, तब जनता अशिक्षित नही रहेगी तथा कला का आनन्द उठाने के लिए जिस छूट और अवकाश की आवश्यकता होती है, वह भी कुछ थोडे लोगो के आधिपत्य से निकल कर सर्वसाधारण मे बँट जायगा और इस प्रकार हम कला के वक्ता और श्रोता को आमने-सामने खडा करके कलाकार की इस समस्या को आसान बना देगे कि वह किसके लिए लिखे।"

मैंने कहा "यह तो डिमाड और सप्लाई का सिलसिला हुआ और समाजवादी आदर्शों के विरुद्ध लिखने की मनाही करके तो आप भी लेखक के व्यक्तित्व की सीमा बाँध रहे है।"

जयप्रकाश जी बोले—"डिमाड और सप्लाई का सिलसिला तो आज भी विद्यमान है। क्या आज सभी प्रकाशक सभी तरह की किताबे छापने को तैयार है? अथवा क्या आजे के पाठको की रुचि का प्रभाव प्रकाशन और लेखन पर नही पड रहा है? दुःख तो यह है कि हमारी जनता अशिक्षित है और शिक्षित समुदाय मे भी आज उन्ही का प्राधान्य है जो साहित्य को मनोरजन का साधन समझते है और इसलिए, वे ऐसी चीजो की माँग करते जिनमे शान्ति और कोमलता अथवा रोमास की गुदगुदी भरो हो। जब जनता सचेष्ट और शिक्षित होगी, इस डिमाड के रूप मे भी परिवर्त्तन होगा और उसकी पूर्त्ति के लिए साहित्य को अपना रूप स्वतः बदल देना होगा।

जहाँ तक लेखको के व्यक्तित्व की स्वच्छन्दता का प्रश्न है, हम नही समझते कि समाज के आदर्श और उद्देश्य को अगीकार करना कोई ऐसा बन्धन है, जिसे वे स्वेच्छा से स्वीकार नही करेगे। मगर, तब भी, समव है, ऐसे लोग हो, जो समाज के वृत्त से बाहर निकलना चाहे। मेर ख्याल है, राज्य की ओर से उनपर कोई रोक नही लगायी जा सकती। अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि राज्य ऐसी चीजो को स्वयं प्रकाशित नही करे।

और आपको जो यह शका होती है कि समाजवाद के अन्दर लेखको के व्यक्तित्व अथवा वैयक्तिकता का ह्रास होगा, सो आज कितने लोग है, जो अपने व्यक्तित्व का विकास कर पाते है ? मैं उन लोगो मे नही हूँ, जो यह मानते है कि गरीबी और अभाव कलाकारो के लिए वरदान हो सकते है। उलटे, मैं तो यही समझता हू कि कला और साहित्य का काम करनेवाले लोगो को आर्थिक निश्चिन्तता और अवकाश जरूर चाहिये, क्योकि इनके बिना वह साधना पूरी ही नही हो सकती जिससे कृतियो मे शक्ति और चमत्कार उत्पन्न होते हैं। मगर भारतवर्ष मे यह निश्चिन्तता और अवकाश कितने लेखको को उपलब्ध है ? प्रायः, सब-के-सब प्रकाशको के शोषण अथवा उनकी उपेक्षा के शिकार हो रहे हैं। यह भी सोचिये कि पाठको के मडल मे आज जिनका बहुमत है, क्या उनकी रुचि को धक्का देने वाले लेखको की किताबे भी बिक पाती है ? देश मे जिनका अपार बहुमत है, उनके पास न तो शिक्षा है और न रुचि। जो थोडे-से लोग सपत्ति जमा कर के बैठ गये हैं, आज साहित्य मे भी उन्ही की रुचि का बोलबाला है। ऐसी अवस्था मे यह सोचना ही बेकार है कि समाजवाद से किसी के व्यक्तित्व का ह्रास होगा। सच्चे व्यक्तित्व के लिए स्वतत्रता और निश्चिन्तता की दरकार है और स्वतन्त्रता कहते है इस चिन्ता से मुक्त होने को कि कल को मेरा रोजगार छूट गया, तो मैं रहूँगा कहाँ और खाऊँगा क्या ? जिस दिन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इस चिन्ता से छुटकारा मिलेगा, व्यक्ति की वैयक्तिकता भी उसी दिन सिर तानकर चल सकेगी और तब व्यक्तित्व के निर्माण या विकास की सुविधा कुछ थोडे-से लोगो के हिस्से की चीज नही रह कर सर्वसाधारण की वस्तु हो जायगी और तभी, शायद, हमारे बीच इतने लेखक, कवि और कलाकार भी पैदा होगे जो अपार जनता की सास्कृतिक क्षुधा को योग्य भोजन से तृप्त कर सके।

मैंने सोचा, जयप्रकाश जी ठीक कहते हैं। रचनात्मक प्रतिभा मे जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है, वह आर्थिक सहायता से ही प्रकट होता हो, ऐसी बात नही है। कलाकार के चारो ओर एक ऐसा अनुकूल आध्यात्मिक वातावरण होना चाहिये जिसमे वह प्रसन्नतापूर्वक और उत्साह के साथ लिख सके। मगर, लिखने या अपने-आपको अभिव्यक्त करने की जो प्रवृत्ति और शक्ति है, वह इन आर्थिक सहायताओ से उत्पन्न नही की जा सकती। कला की ऊँची कृतियो का निर्माण कलाकार इस भाव से नही करता कि समाज उनके बदले उसे पुरस्कारो और रुपयो से लाद देगा, किन्तु रचनात्मक प्रवृत्ति को जीवित रखने के लिए तथा लेखक को लिखने का अवसर और क्षेत्र देने के लिए समाज मे अनुकूल परिस्थितियो का कायम रहना बहुत जरूरी है। समाज की जो पद्धति लेखक की प्रतिभा को खुल कर काम करने नही देती, उसपर किसी किस्म का घेरा डालती अथवा उसे अनुर्वर बनाती है, वह अन्य दृष्टियो से चाहे कितनी भी उपयोगी क्यो नही हो, किन्तु,

प्रतिभाशाली लोगों के व्यक्तित्व का ह्रास करने के कारण वह निन्दित और हेय ही समझी जायगी। समाज की प्रगति उसके व्यक्तियों मे प्रकट होती है और इनमे से भी कुछ ही लोग होते है, जिनमे यह प्रगति पूर्णता को प्राप्त होती है। ये थोडे-से लोग सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक जीवित और चैतन्य होते है। वे उन विचारो, मानसिक चित्रो और भावनाओ को याद रखते तथा उनका आनन्द उठाते है जो पहले के साहित्य या कला मे आ चुकी हैं तथा वे मनुष्य के भीतर आनन्द की नयी-नयी भूमि का भी अनुसन्धान करते रहते है। उनकी सत्ता सर्वसाधारण की सत्ता के साथ पूर्ण रूप से एकाकार नही की जा सकती। उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ-न-कुछ विशेष प्रबन्ध रहना ही चाहिये।

मगर, यह बात भी ठीक है कि जिसे हम व्यक्तित्व कहते है, उसकी जड मे कही न कही आर्थिक निश्चिन्तता का सवाल है। ऑस्कर वाइल्ड की एक बात याद आती है कि बायरन, शेली, ब्राउनिंग, विक्तर ह्यूगो, बादेलेयर और उनके ही समान कुछ और लोग जरूर हुए है जो खाने-पीने से निश्चिन्त थे, जिन्हे जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक दिन भी मजदूरी नही करनी पडी, जो दरिद्रता की पीडा से मुक्त थे, जो समाज मे लाभ और निश्चिन्तता के बिन्दु पर खडे थे; यही कारण है कि वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके और जिस दिशा की ओर उनकी नीति थी, उस दिशा मे वे काफी आगे जा सके।

बर्ट्रंड रसल का भी विचार है कि रचनात्मक प्रतिभावाला मनुष्य अपनी योग्यता का उपयोग तभी कर सकता है जब कि उसे कला की आराधना के लिए पूरा अवकाश हो। आज की अवस्था मे तो यह उन्ही के लिए सम्भव दीखता है जिनके पास गृहस्थी चलाने के पूरे सामान हैं अथवा जो किसी ऐसे काम के जरिये अपनी जीविका चलाते है जिसमे उनका अधिक समय नही जाता यानी पेट के लिए कुछ थोडे समय तक खट कर बाकी समय को जो अपने ब्रह्म की उपासना मे लगा सकते है। रसल ने यह भी कहा है कि जिन्होने वैयक्तिक सम्पत्ति के सहारे कला के अच्छे काम किये, उनकी सख्या थोडी, किन्तु नाम बडे उजागर है। इस सम्बन्ध मे उन्होने मिल्टन, शेली, कीट्स और डारविन के नाम लिये है और लिखा है कि अगर इनमे से किसी को भी अपनी जीविका चलाने के लिए मजदूरी करने की नौबत आयी होती, तो निश्चय ही, वह उतनी अच्छी कृतियाँ हमे नही दे सकता था, जैसा कि वह दे गया। सच तो यह है कि अगर डार्विन किसी विश्व-विद्यालय मे अध्यापक हुए होते, तो निश्चय ही, मनुष्य को बन्दर की सन्तान सिद्ध करने के कारण उन्हे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता।

और तब मैं लुई फिशर की इस बात पर विचार करता हूँ कि रूस मे अगर कोई वर्ग सुखी, सम्मानित और सम्पन्न है, तो वह साहित्यिको का वर्ग है। तो क्या रूसी लेखको की यह समृद्धि स्वच्छन्दता की कीमत पर आयी है? या क्या

यह इस समझौते का परिणाम है कि तुम मुझे शरीर दो, मैं तुम्हे आत्मा दे दूंगा ?

रूसी लेखको को यह स्पृहणीय स्थिति कैसे प्राप्त हुई, इसकी व्याख्या करते हुए इंगलैंड के कवि स्पेण्डर ने लिखा है कि रूसी लेखको के चिन्तन और शोध की जो सीमाएँ बाँधी गयी है, उनमे वे उतना नही घबराते जितना बाहरवालो को मालूम होता है । बाहरवालो को ये सीमाएँ घाटे-सी दीखती है किन्तु, क्रान्ति के प्रमुख नेताओ की दृष्टि मे वे घाटा नही, बल्कि, लाभ है ।

सम्भव है, हम लोग वैयक्तिकता को जितना महत्त्व देते है, वह हमारे निष्क्रिय बौद्धिक चिन्तन का परिणाम हो । सम्भव है, डिक्टेटरशिप के अन्दर चिन्तन के चारो ओर जो लक्ष्मण-रेखा खीची जाती है, उसके भीतर व्यक्तित्व के वर्द्धन और विकास के लिए बहुत बडा अवकाश हो अथवा यह भी सम्भव है कि बुर्जुआ-समाज मे जो गिने-चुने व्यक्ति व्यक्तित्ववाले होते है, डिक्टेटरो के अधीन स्थापित किये जानेवाले शोषणहीन समाज मे वैसा ही व्यक्तित्व बहुत लोगो को प्राप्त होता हो और ऊँचाई की दृष्टि से (Vertically) हम जो नुकसान उठाते है, वह फैलाव मे (Horizontally) पूरा हो जाता हो । किन्तु, इन सारी चिन्ताओ के बाद जो बात प्रमुख होकर सामने आती है, वह यही है कि हर प्रकार के व्यक्तित्व के लिये आर्थिक निश्चिन्तता आवश्यक है ।

अतएव, मैंने जयप्रकाशजी से पूछा कि आपकी कल्पना के समाजवाद मे लेखको की रोटी-दाल का क्या सामान होगा ? अगर प्रकाशन-सम्बन्धी वैयक्तिक उद्योगो को रोककर राज्य खुद प्रकाशन करने लगे, तो इसका एक परिणाम यह होगा कि इस दिशा मे राज्य जिस बोर्ड की राय से चलेगा, उस बोर्ड के सदस्यो की पसन्द और नापसन्द का साहित्य पर गहरा प्रभाव पडेगा और जो लोग बोर्ड के सदस्यो के विचारो का खण्डन करनेवाले होगे, उनकी पुस्तको का यथेष्ट प्रचार नही किया जा सकेगा । यह भी एक प्रकार का बन्धन ही है । इसके सिवा, बोर्ड तो अक्सर, उन्ही लेखको की पाण्डुलिपियो को स्वीकार करेगा जो प्रसिद्ध हो चुके है । मगर, उन उदीयमानो का क्या हाल होगा जिनके झुण्ड मे मे हर तीसरे-चौथे साल कोई-न-कोई बडा लेखक और कवि आता ही रहता है ?

जयप्रकाशजी बोले—"यह समस्या अभी जितनी कठिन है, प्रजातन्त्री समाजवाद के अन्दर वह उतनी कठिन नही रह जायगी । यह ठीक है कि प्रकाशन का मुख्य काम राज्य के द्वारा ही होगा और राज्य की तो कही-न-कही कोई सीमा अवश्य होगी । किन्तु, प्रजातन्त्री समाजवाद सहयोग-समितियो को भी प्रश्रय देगा और इन समितियो के द्वारा वे सभी ग्रन्थ प्रकाशित किये जा सकेंगे, जिन्हे जनता पढना चाहेगी । दरअसल, प्रजातन्त्री समाजवाद शोषणहीन समाज का वह रूप है जिसमे डिक्टेटर नही होगा और जहाँ सभी कार्यो मे जनता की ही

इच्छा प्रधान होगी। आज जनता के अशिक्षित रहने के कारण लेखक तगी मे हैं, किन्तु जनता की शैक्षिक उन्नति के वाद तो यह स्थिति टिक ही नही सकेगी। जिस देश की जनता शिक्षित, जागरूक और चैतन्य हो, उस देश मे किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता के अपहरण का षड्यन्त्र नही चल सकता। ऐसे षड्यन्त्र के लिये यह आवश्यक होता है कि सरकार जनता को गलत ढग पर शिक्षित करे यानी जनता को वह उन बातो तक पहुँचने ही नही दे जिनकी जानकारी से सरकार का अहित होता है। किन्तु, यह डिक्टेटरो की पद्धति है। प्रजातन्त्री समाजवाद मे जो सरकार बनेगी, जनता की इच्छा से बनेगी और उसके पास कोई भी ऐसी बात नही होगी जिसे जनता से छिपाना जरूरी हो। जब तक हम अपने दैनिक कार्यक्रमो मे जनता को पूर्णरूप से साथ नही लेते, तब तक तो प्रजातन्त्री समाज का ध्येय ही अधूरा रह जाता है। फिर ऐसे समाज मे कोई भी ऐसा ज्ञान अप्रकाशित कैसे रह सकेगा जिसे जनता प्रकाश मे लाना चाहती हो?

मेरा ख्याल है कि स्वाधीन चिन्तन का काम कभी भी खतरो से खाली नही होगा। पहले भी ऐसे लोग हुए हैं जो अपने विचारो के कारण कष्ट मे रहे और आज भी ऐसे लोग है जो अपने विचारो की स्वाधीनता के कारण बड़ी ही मुश्किल से जी रहे है। विचारो की राह से मानवता को प्रगति की ओर ले-जानेवाले लोग बराबर विद्रोही होते हैं और विद्रोहियो को राजसत्ता कभी भी प्यार नही करती। तो भी विद्रोही अगर कष्ट झेलकर भी अपनी बात कहता जाय, तो इससे समाज का कल्याण और बागी का गौरव ही बढता है। किन्तु, जहाँ विद्रोहियो की जुबान पर ताले जड दिये जाते हैं, समाज का वास्तविक अकल्याण और मानवता की असली क्षति वही आरम्भ होती है। अगर क्रोपाटकिन की कल्पना का समाज धरती पर लाया जा सके, तब तो विद्रोहियो को सकुशल जीने की सुविधा मिल सकती है, अन्यथा, ससार मे जितने भी प्रकार के राज्यो की कल्पना की जाती है, उनमे से हर एक मे बागी बागी ही रहेगा। ऐसी अवस्था मे हम अपेक्षाकृत छोटी नुकसानी को ही स्वीकार कर सकते है और वह यह है कि बागी को सताना अगर तुम नही छोड सकते, तो मत छोडो, किन्तु, कम-से-कम इतना तो करो कि वह अपने मन की बात बोलता जाय।

रजत और आलोक की कविता

I have gathered my dreams in a silver air,
Between the gold and the blue;
And wrapped them softly and left them there
My jewelled dreams of you

—श्री अरविन्द

जब तक गाँधीजी जीवित थे, विदेशों मे लोग उनके कल्प-व्यापी महत्त्व को नही समझ पाते थे। दूर से उन्हे सुनायी पडता था कि भारतवर्ष मे एक आदमी पैदा हुआ है, जो अग्रेजो के साम्राज्यवाद को खुले-मैदान ललकार रहा है और इतना सुन लेने के बाद वे और कुछ सुनने की जरूरत महसूस नही करते थे। बल्कि, राज्यो और साम्राज्यो को ललकारनेवाले ससार मे जो और नेता हो गये हैं, उनके लक्षणो को गाँधीजी के चरित्र मे मिलाकर वे समझ लेते थे कि अवश्य ही यह कोई गेरीवाल्डी, रोबसपियर या लेनिन होगा। किन्तु, आज दुनिया समझ रही है कि गाँधीजी रोबसपियर, गेरीवाल्डी और लेनिन होते हुए भी उनमे से प्रत्येक से महान् थे और उनके प्रभाव की सीमा किसी एक ही देश या काल की परिधि तक नही रुकनेवाली है।

श्री अरविन्द के सम्बन्ध मे भी कुछ ऐसा ही हुआ है। वर्तमान पीढी उन्हे एक ऐसे साधक के रूप मे जानती है, जो साल-का-साल अपने साधना-कक्ष मे बन्द रहता है, जिसे ससार से कोई सम्बन्ध नही, जो अपने देशवासियो और मानव-बन्धुओ को उपेक्षित छोडकर केवल अपनी वैयक्तिक मुक्ति के लिये प्रयत्न-शील है। हमने यह भी सुन रखा है कि कभी वे कैम्ब्रिज के अत्यन्त मेधावी छात्र थे, उन्होने "वन्देमातरम्" नामक अपने जोशीले पत्र के माध्यम से एक समय देश मे वीरता, निर्भयता और उग्र राष्ट्रीयता का व्यापक प्रचार भी किया था और अन्त मे, वे अलीपुर-बम के मुकदमे मे फँसा लिये गये तथा देशबन्धु चित्तरञ्जनदास ने उनकी ओर से ऐसी वकालत की कि अदालत को उन्हे रिहा कर देना पडा। श्री अरविन्द के सम्बन्ध मे ये ही कुछ बातें है जो हवा मे मँडराती-फिरती हैं और जिन्हे सुनकर हम उनके सम्बन्ध मे अच्छी या बुरी धारणा बना लेते हैं।

किन्तु, अब उनके रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व और क्रिया-कलाप पर से आवरण का कुहासा धीरे-धीरे दूर हो रहा है तथा हम उनके असली रूप को कुछ अधिक स्पष्टता के साथ समझने लगे हैं।

पुस्तको और महात्माओ के मुख से हमने योग की बडी महिमा सुन रखी हैं तथा हममे से अनेक ने अध्यात्म के उन्मेष में आकर उसकी थोडी-बहुत साधना भी

की होगी। किन्तु, यह विषय अपनी दुरूहता तथा असुलभता के कारण उपेक्षित कर दिया गया और मानवता के जो भी नेता इस नवीन युग मे उत्पन्न हुए, उन्होने इसे कोई भी महत्त्व नहीं दिया। निदान, श्री अरविन्द का, योगेश्वर के रूप मे, सुयश सुनकर हमने उन्हे मस्तक तो जरूर नवाया, किन्तु, अपनी गम्भीर भक्ति हम उन्हे अर्पित नही कर सके, क्योकि, हमारे हृदयो मे कही-न-कही यह भाव छिपा रहा है कि योग व्यर्थ है। यदि वह सार्थक है भी तो उन दो-चार विशिष्ट लोगो के लिए जो जीवन के कोलाहल से बहुत दूर, किसी कन्दरा या कुञ्ज मे छिपकर, अपनी वैयक्तिक मुक्ति के लिए प्रयास करना चाहते है। किन्तु, जिस युग मे वैयक्तिक मुक्ति की जगह सामाजिक मोक्ष ने ले ली हो, उस युग में वैयक्तिक मुक्ति दिलानेवाले साधन का ही क्या महत्त्व रह जाता है? इसके सिवा, मनुष्य ने जिस विज्ञान की सृष्टि की है, उस विज्ञान ने उसे यह सिखलाया है कि "सत्य वह है जिसे हम काठ की उँगलियो से छू सकते हैं। सत्य वह है, जिसे हम सहज स्थिति मे देख सकते हैं, विकृति के माध्यम से जो चमत्कार देखने मे आता है, वह सत्य नही हो सकता।" विज्ञान ने उदाहरण दिया, "तुम जब आँख के कोने को दबाते हो तब सूर्य दो, चन्द्रमा दो और ससार की प्रत्येक वस्तु दो दीखने लगती है। किन्तु असल मे वह एक ही है। उसका दूसरा रूप तो सिर्फ प्रतिबिम्ब है जिसे तुम सहजता से नही, प्रत्युत, विकार की अवस्था मे देख सकते हो।" मनुष्य ने इस गूढ विश्लेषण पर विज्ञान की दी हुई बुद्धि से विचार किया और कहा कि "विज्ञान ठीक कहता है। विश्वसनीय अवस्था तो सहजावस्था ही है। अपने को विकृत करके हम सत्य के समीप कैसे जा सकते है?"

लगभग चालीस वर्षो की साधना के बाद श्री अरविन्द का जो रूप कुहासे से ऊपर आ रहा है, वह इन सभी 'प्रीजुडिसेज' या रूढ धारणाओ को चुनौती देने वाला है। कुहेलिका के घेरे मे से वे एक प्रकाशमान सूर्य के समान उठते हुए ऊपर आ रहे है, एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता की दीप्ति लिये हुए, एक अकथनीय करुणा की लाली से सराबोर। उनका व्यक्तित्व पहले के सभी कवियो, ऋषियो और नेताओ के व्यक्तित्व से भिन्न है; क्योकि उनकी विशेषता केवल योग ही नही है जिसे लोग गुप्त रखने के आदी हैं; प्रत्युत, वे एक दार्शनिक काव्य अथवा काव्यात्मक बौद्धिकता के भी आगार मालूम होते हैं, जिसकी व्याख्या आगामी युगो को अपने तेज से भर दे तो इसमे कोई आश्चर्य नही करना चाहिये। अपनी रिक्त गुफाओ को भरने के लिए, अपनी शून्य कन्दराओ को आबाद करने के लिए मनुष्य को जिन किरणो की आवश्यकता है, वे सभी किरणें श्री अरविन्द के मुख से निःसृत वाणी तथा उनके आलौकिक व्यक्तित्व मे लिपटी हुई आ रही हैं। और विस्मय की बात तो यह है कि उनका आविर्भाव एक ऐसे युग मे हो रहा है जो युग शका, अविश्वास, श्रद्धाहीनता और नास्तिकता के कोलाहल से एक दम आक्रान्त है।

कहते हैं, विश्व की उपेक्षित आत्मा को सम्यक् आवास देने का दायित्व भारत का है। भारत इस व्रत के साथ आविर्भूत हुआ है कि वह मनुष्य के भीतर मरनेवाले मनुष्य को पुनरुज्जीवित करेगा, वह उन कोमल किरणो को फिर से अधिष्ठित करने के लिए सघर्ष करेगा जो अन्धकार से पराजित होकर निर्जन स्थानो मे अनाथ और विधवा के समान निस्सहाय-सी घूम रही हैं। गाँधीजी ने भारत को स्वाधीन किया। क्या अन्धकार और प्रकाश की नूतन समर-भूमि मे आलोक के नेता श्री अरविन्द होगे ?

मगर, योग को तो जनता ग्रहण नही करेगी और कोरे अध्यात्म की ओर भी समूह की अनुरक्ति को प्रेरित करना कठिन है। हाँ, जडता और आध्यात्मिक चेतना के बीच काव्य एक ऐसा माध्यम है, जिसमे मनुष्य का हृदय पकड मे लाया जा सकता है। योग-साधना मे मनुष्य मे और जो भी शक्तियाँ उत्पन्न होती हो या नही, किन्तु, एकाग्रता तो आती ही है और एकाग्रता तथा एकान्त चिन्तन मे मनुष्य के भीतर नयी-नयी अनुभूतियो के द्वार खुलते हैं, उनके मन मे नये-नये रूपरगो के फूलो का प्रस्फुटन होता है। मनुष्य के अभाव को भरनेवाली जो भी अनुभूतियाँ श्री अरविन्द की चालीस वर्ष की साधना मे उत्पन्न हुई है, उन्हे मनुष्य उनकी कविता के द्वारा अपने लिए शक्य मात्रा मे अवश्य ग्रहण कर सकता है। कविता और योग की साधना मे एक प्रकार का साम्य है। कवि और योगी एकाग्रता तथा समाधि के माध्यम से सत्य के पास पहुँचते है। यह बहुत अच्छा हुआ कि योगेश्वर अरविन्द ने अपनी समाधिजन्य किरणो को काव्य बनाकर उन लोगो के लिए यत्किंचित उपलब्ध करा दिया है, जो योग और कविता, दोनो के विश्वासी हैं।

जब से श्री अरविन्द के "सावित्री" नामक महाकाव्य का प्रकाशन हुआ और देश मे यह चर्चा चलने लगी कि उन्हे नोबेल-पुरस्कार मिलना चाहिये, तब से उनके सम्बन्ध मे जिज्ञासा करनेवालो की सख्या बढ गयी है। किन्तु, सच तो यह है कि अरविन्द आज कोई नये-नये कवि नही हुए हैं, प्रत्युत, काव्य, समाधि और चिन्तन आरम्भ से ही उनके प्रधान साधन रहे हैं। राजनीति मे उनका पदार्पण ऐश्वर्य-भोग के लिए नही, प्रत्युत, अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए हुआ था। आँखो के सामने घटित होनेवाले अनीति के कार्यों को सहने से केवल गृहस्थ ही अपने धर्म से पतित नही होता, बल्कि कायरतापूर्ण तटस्थता की नीति को अपनाने से संन्यासी, कवि, ऋषि, चिन्तक, ज्ञानी और सन्त, सब-के-सब अपनी मर्यादा से गिर जाते है। ऐसा लगता है कि अरविन्द का राजनैतिक अभियान भी उनकी ऊँची साधना का ही एक अङ्ग था और जब वे अपने देशवासियो के हृदय मे निर्भयता की वह्नि प्रज्वलित कर रहे थे, तब भी उनके भीतर योग और काव्य-साधना की ज्वाला एकाकार होकर अलक्षित रूप से जल रही थी। और उस समय भी देश मे

ऐसे लोग थे, जो श्री अरविन्द की इस विशिष्टता को समझते थे, जो उन्हे केवल आन्दोलनकारी ही नही, बल्कि एक ऐसा पुरुष समझते थे, जिसकी वाणी देश और काल की सीमाओ को भेदकर अनन्त काल तक गूंजती रहती है। उदाहरणार्थ, अलीपुर बम-केस मे अरविन्द की ओर से बहस करते हुए स्वर्गीय चित्तरञ्जन दास ने कहा था कि "इस विवाद के बन्द हो जाने के बाद, इस उपद्रव और हलचल के शान्त हो जाने के बाद, इस आन्दोलन के खत्म हो जाने पर और श्री अरविन्द के अन्तर्हित हो जाने के बहुत दिनो बाद भी वे देशभक्ति के ज्वलन्त कवि, राष्ट्रीयता के सन्देशवाहक और मानवता के प्रेमी के रूप मे पूजित होगे। मृत्यु के बहुत बाद, अरविन्द की आवाज सिर्फ भारतवर्ष मे ही नही, बल्कि, समुद्रो के आरपार सारे ससार मे गूंजेगी। इसलिए, मैं कहता हूँ कि जिसे आप अपनी अदालत मे खडा किये हुए हैं, वह सिर्फ आपके सामने ही नही, प्रत्युत, इतिहास की बहुत बडी अदालत के सामने खडा है।"

जिन दिनो यह मुकद्दमा चल रहा था, उन दिनो अरविन्द का कवि अध्यात्म के किस स्तर तक पहुँच चुका था, यह बात उन कविताओ से प्रत्यक्ष होती है, जिनकी रचना उन्होने अलीपुर जेल मे की थी। समूह और व्यक्ति, दोनो ही, के उद्धार का मार्ग वे उसकी आत्मा मे देखते थे। राष्ट्र का उद्धार बाह्य सहायताओ से नही, प्रत्युत, आभ्यन्तर साहस के विकास से होता है। गिरफ्तार तो वे बम के सिलसिले मे ही हुए थे, किन्तु उनकी दृष्टि मे देशोद्धार का साधन बम नही, बल्कि, वेदना, बलिदान और अधिकाधिक तपस्या थी। इस प्रकार, वे व्यक्ति के उद्धार के लिए भी सहिष्णुता, तपस्या और बलिदान को आवश्यक समझने लगे थे। भगवान अपने भक्तो को जिस मार्ग पर चलाना चाहते हैं, वह मार्ग फूलो से सुसज्जित राजपथ नही है। उसपर बदन को फाड देनेवाले काँटे और नुकीले पत्थर बिछे हैं, उसपर हृदय को दहला देनेवाली घटनाओ का अम्बार लगा है। कबीर ने कहा था,

> कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ,
> जो घर जारै आपना, चलै हमारे साथ

श्री अरविन्द के मुख से यह अनुभूति निम्नलिखित रूप मे निःसृत हुई :—

> With wind and the weather beating around me
> Up the hill and the moorland I go ,
> Who will come with me ? Who will climb with me ?
> Wade through the brook and tramp through the snow.
> Not in the petty circle of cities
> Cramped by your doors and walls I dwell.
> Over me God is blue in the welkin,
> Against me the wind and the storm rebel.

"वायु के झकोरो और मौसिम के थपेडो को सहता हुआ मैं पहाडो और चट्टानो पर चढकर आगे जा रहा हूँ। जो भी मेरे साथ आना चाहे, जो भी मेरे साथ ऊपर उठना चाहे, वह नालो को चीर कर आये, वह वर्फो को कुचल कर आगे वढे।

दीवारो और दरवाजो से सीमित नगरो के क्षुद्र वृत्त मे मैं नही वसता। मैं तो वहाँ हूँ, जहाँ ऊपर के सुनील व्योम मे भगवान हैं और नीचे मेरी छाती से विद्रोही तूफान टकरा रहे है।"

इसी से मिलती-जुलती अनुभूति की चोट खाकर इकवाल ने कहा था—

उकावी रूह जव वेदार होती है जवानों मे,
नजर आती है उसको अपनी मंजिल आसमानो मे
नहीं तेरा नशेमन कस्र-सुलतानी की गुम्वद पर,
तू शाहीं है, वसेरा कर पहाडो की चटानो मे।

कवीर के दोहे मे सन्यास का साहस है। इकवाल की रूवाई ससार मे फैलकर वसने के लिए वाज वनकर जीने का सदेश देती हैं। किन्तु, श्री अरविन्द की इस कविता मे वैराग्य और वीरता की समन्वित दीप्ति झलक रही है। आज हम अरविन्द-आश्रम से जिस महामानव की अस्पष्ट कल्पना का सवाद सुन रहे हैं, उसकी एक धुँधली झाँकी श्री अरविन्द को, शायद, अलीपुर जेल मे ही मिली थी। महामानव की कल्पना, मनुष्य के, कदाचित्, उस व्यक्तित्व की कल्पना है, जिसमे अध्यात्म और आधिभौतिकता, दोनो ही, अपने-अपने उचित भाग लेकर सतुलन में रहेंगे। उसमे मनुष्य का वह रूप है, जो तूफानो पर शासन करेगा, पहाडों की चोटियो पर अपनी पद-रेणु का तिलक लगायेगा, खतरो को अपना मित्र समझकर हमेशा निर्भीक रहेगा और उन किरणो के उदगम को अपने हृदय मे वसाये रहेगा जिनकी विभा ज्ञात और अज्ञात विश्व मे एक-सी फैली हुई है।

I am the lord of tempest and mountain,
I am the spirit of freedom and pride,
Stark must he be and a kinsman to danger,
Who shares my kingdom and walks at my side,

उन्ही दिनो कवि ने "सपनो की माता" नामक एक दूसरी कविता भी लिखी थी, जिसमे उनकी तत्कालीन विकास की रेखाएँ और भी दीप्तिमयी मालूम होती हैं। वाहर से जो पुरुष हिंसात्मक आन्दोलन का नेता बना हुआ था, भीतर ही भीतर वह किस अज्ञात देश की सीमा पर पहुँच गया था, यह बात इस कविता से प्रत्यक्ष हो जाती है। यह कल्पना है या दृश्य, स्वर है या चित्र जो हमे आनन्द का लहर मे डुवोये जा रहा है? समाधि ने श्री अरविन्द को जो झाँकियाँ

दिखलायी थी, उनकी शक्ति-शालिनी कवि-प्रतिभा ने उन झाँकियो को शब्दो के सुनहरे और रुपहरे तारो तथा रहस्यमयी वाणी के रेशमी धागो मे बडी ही कुशलता से बाँध कर रख दिया है :—

Open the gate where thy children wait
In the world of beauty undarkened
High throned on a cloud, victorious and proud
I have espied Maghavan ride
When the armies of wind are behind him
× × × ×
Thine is the shade from which visions are
made ;
Sped by thy hands from celestial lands,
Came the souls that rejoice for ever
In to thy dream-worlds we pass or look in thy
image glass.
Then beyond thee we climb out of space and
Time to the peak of the divine endeavour.

ऐसी स्वपूर्ण कविता पर शका करना व्यर्थ है। यह तो इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि कवि अनन्तता के किनारे खड़ा होकर उसके भेदो की झाँकी ले रहा है तथा उसमे शक्ति भी आ गयी है कि इस अदृश्य जगत् के अप्रेषणीय चमत्कारो को गीतो की नादवती धारा मे उँडेल दे।

गीता की ज्ञानेश्वरी-टीका अथवा तिलक के गीता-रहस्य के पूर्व की अन्य कितनी ही टीकाओ मे सन्यास का जो अर्थ निरूपित किया गया है, उस अर्थ मे सन्यास श्री अरविन्द के योग का अङ्ग नही है। योग-की उपादेयता मानस जगत् पर से विचारो के बोझ को दूर करने मे है और उसकी सिद्धि इस बात मे कि मन के आकाश मे बादलो की तरह मँडरानेवाले क्षणिक विचारों की छाया भी नही पडे। किन्तु, मन की इस निर्मलता से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे किसी लोकोपकारी कार्य मे लगाना ही चाहिये। श्री अरविन्द की आरम्भिक कविताओ मे (जिनसे किसी भी महाकवि की गौरव-वृद्धि हो सकती है) मानवात्मा का यह प्रयास अपनी असख्य ज्योतियो के साथ देदीप्यमान है। "ए गाड्स लेबर" नाम्नी उनकी एक प्राचीन रचना से नीचे जो उद्धरण दिये जा रहे हैं, उनसे श्री अरविन्द के महान् पुरुषार्थ का पता चलता है :—

I had hoped to build a rainbow-bridge
Marrying the soil to the sky,

And sow in this dancing planet midge
The moods of Infinity
But too bright were the heavens, too far away,
Too frail their Ethereal stuff ;
Too splendid and sudden, our light could not stay,
The roots were not deep enough

"मेरी आशा थी कि किसी दिन मैं इन्द्रधनुष का सेतु बनाकर मिट्टी को आकाश से ब्याह दूँगा तथा इस क्षुद्र ग्रह पर अनन्तता की मुद्राएँ बोऊँगा। किन्तु, स्वर्ग बड़ा ही जाज्वल्यमान और बहुत दूर था तथा वियन्मडल के उप-करण भी बहुत ही कोमल थे। आकाश की आभा इतनी प्रबल और आकस्मिक थी कि मेरी आँखें वहाँ ठहर नही सकी। और मूल की गहराई भी इतनी बडी नही थी कि उसमे अनन्तता के बीज समा सके।"

He who would bring the heavens here
Must descend himself into clay ,
And the burden of earthly nature bear
And tread the dolorous way.

"जो स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारना चाहता है, उसे पहले स्वय को मिट्टी पर उतार लेना चाहिये। पृथ्वी का जो स्वभाव है, उसके भार का वहन पहले उसे स्वय करना चाहिये, पृथ्वी के पथ मे जो वेदनाएँ हैं, उन्हे भोगते हुए पहले उसे स्वय अग्रसर होना चाहिए।"

I have been digging deep and long
Mid a horror of filth and mire,
A bed for the golden river's song
A home for the deathless fire

"मलिनता और भयानकता से भरी भूमि पर मैं एक गहरी खाई खोद रहा हूँ, जिसमे सुनहरी नदी का सगीत निवास कर सके तथा अमरता की वह्नि प्रज्व-लित रह सके।"

ऊपर के पदो मे कर्मन्यासवाले सन्यास का स्पष्ट परिहार है। श्री अरविन्द अपनी समस्त साधनाओ के बाद के इस योग्य बनना चाहते है कि वे मिट्टी और आकास के बीच एक इन्द्रधनुष का निर्माण कर सके, धरती की मलिन कुक्षि मे सुनहरी नदी का सगीत बो सकें और मर्त्यलोक मे अमरता की आभा बिखेर सके। किन्तु, इन महान् उद्देश्यो की प्राप्ति केवल कल्पना से सभव नही है। उसके लिए तो अनवरत अध्यवसाय की आवश्यकता है। अदृष्ट की ओर से श्री अरविन्द को अध्य-वसाय का जो सकेत मिला है, उसकी ओर इगित करते हुए वे कहते है :—

A voice cried, "Go where none have gone,
Dig deeper, deeper yet,
Till thou reach the grim foundation stone
And knock at the keyless gate.

"एक आवाज आई, तुम्हे वहाँ पहुँचना है जहाँ अब तक कोई भी नही पहुँच सका है। नीचे की ओर खोदते हुए दूर, बहुत दूर तक चले जाओ और नीव के पत्थर पर पहुँचकर दम लो, जहाँ पहुँचकर तुम्हे उस दरवाजे पर दस्तक देनी है, जिसकी कुन्जी किसी के पास नही है।"

इसी कविता मे योगी-कवि ने उन मार्गों का वर्णन किया है, जिनसे होकर वे सत्य की उपलब्धि के लिए प्रयास करते रहे हैं। कहते है, मैंने मन के ऊपरी धरातल पर बसने वाले देवताओ को छोडकर तथा जीवन की अतृप्त कामनाओ के अबुधि से अलग हटकर शरीर के अन्ध-मार्ग मे डुबकी लगाई और नीचे के रहस्य-पूर्ण देश मे जा पहुँचा। मेरे ऊपर नाग फुकार रहा था और दैत्य की आवाजे मँडरा रही थी, किन्तु, मैं नीचे उतरता ही चला गया और उस शून्य मे प्रविष्ट हुआ, जहाँ से विचारो का जन्म होता है। जिस खाई के पेंदी नही है, उसमे भी जाकर मे विचरण कर चुका हूँ। अलोक का अभियान बहुत दूर तक गूँज चुका है। सुनहरे सोपान के नीचे से प्रकाश के शिशु अन्धकार के अवसान का सवाद सुनाने ही वाले हैं। थोडी ही दूर के बाद, नये जीवन का द्वार रजत-प्रकाश से विभासित होगा। ज्योति के उस जगमगाते हुए विश्व मे पहुँचकर मैं वहाँ की रुपहरी वायु मे अपने स्वप्नो को विसर्जित कर दूंगा और तब तुम्हारे अस्तित्व का जीवित सत्य, रूप धरकर, पृथ्वी पर विचरण करेगा।"

I shall leave my dreams in their argent air,
For in a raiment of gold and blue,
There shall move on the Earth embodied and fair
The living truth of your.

किन्तु, ये रचनाएँ श्री अरविन्द की साधना के दिनो की हैं। उनकी सिद्धि का महाकाव्य तो, सचमुच, 'सावित्री' ही है, जिसके कितने ही खंड प्रकाश मे आ चुके हैं; यद्यपि इसकी आशा कम दीखती है कि इस समय उस काव्य का सम्यक् अध्ययन आरम्भ हो सकेगा। श्री अरविन्द एक काल, एक देश अथवा एक समाज के महापुरुष नही, प्रत्युत, वे मानवता के विकास के नेता हैं। श्री अरविन्दाश्रम के साधको का विश्वास है कि जिस प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर विद्यमान है, उनसे मानवता की सभी समस्याओ का निराकरण नही हो सकेगा। मानवजाति की सभी समस्याओ का मूल कारण यह है कि मनुष्य अभी छोटा है, पशुता से अभी वह पूर्ण रूप से मुक्त नही हुआ है। कविवर जोश ने हँसी-हँसी मे आदमी को लक्ष्य

करके कहा है कि 'अभी तो इसकी फकत पूंछ झडी है।" श्री अरविन्द जिस महा-मानव को पृथ्वी पर लाना चाहते हैं, उसके लक्षण, पहले भी कितने ही महापुरुषो मे व्यक्त हो चुके हैं और आज उसकी आहट श्री अरविन्द की कविता मे स्पष्ट रूप से मिल रही है। मुझ-जैसे सामान्य मनुष्य की कल्पना मे वह ठीक से नही समा सकता। किन्तु, सोचता हूँ कि वह ऐसा मनुष्य होगा जिसमे आज के मनुष्यो की क्षुद्रता नही होगी, जो भीतर और बाहर सर्वत्र ज्योतिष्मान् तथा पवित्र और शक्तिशाली होगा एव जिसके लिए एक-मात्र वे ही सत्य ग्राह्य नही होगे जिनकी स्थापना विज्ञान कर रहा है। सभव है, वह अदृश्य को भी ग्राह्य बनाने के लिए विज्ञान-जैसी ही किसी अन्य विधि का आविष्कार करे, सभव है, वह मिट्टी और आकाश के बीच इन्द्रधनुष के सेतु पर विचरे और धरती के वृक्ष मे सचमुच ही किसी सुनहरी नदी का सगीत भर दे। वह कब आयेगा, इसका सकेत नही है। किन्तु, जब सपने आ गये हैं, तब उनका सत्य रूप कभी न कभी आयेगा ही। अभी तो हम समाधि में ही उसकी झांकी ले सकते हैं।

He knew things by their soul and not their shape,
As those who had lived long made one in love,
Need word nor sign for heart's reply to heart,
He met and communed without bar of speech
Cith beings unveiled by a material frame
All objects were like bodies of the God
A spirit symbol environing a soul,
For world and soul were one reality.

(सावित्री . द्वितीय भाग : १४ वां सर्ग)"

"वह चीजो को उनकी आत्मा से पहचानता था, स्वरूप से नहीं, ठीक वैसे ही जैसे दो प्रेमी बहुत दिनो तक प्रेम में निवास करते-करते एकाकार हो जाते हैं, तब वे दिल से दिल को जवाब देने के लिए शब्दो और सकेतो की आवश्यकता नही समझते। आधिभौतिकता के ढांचे से अनावृत जीवो के साथ जब उसकी भेट होती, वह उनसे भाषा की दीवार के बिना ही बातें करता था। ससार मे जितने भी पदार्थ हैं, वे उसे ईश्वर के स्वरूप मालूम होते थे। स्पिरिट (रूह) उसकी दृष्टि मे एक प्रतीक थी जो प्रत्येक आत्मा को अपने आवेष्टन मे लिये हुए थी, क्योकि उसकी दृष्टि मे विश्व और आत्मा मे कोई भेद नही था।"

महामानव के जो लक्षण ऊपर दिये गये हैं, वे शब्दो मे पूरी तरह नहीं समा सकते। भाषा प्रत्येक स्वप्न को साकार कर दे, यह असम्भव है। ऊपर के सदर्भ से यह स्पष्ट झलकता है कि कवि अरविन्द के ध्यान मे महामानव का जो स्वरूप आया है, उसका चित्रण उन्होने भी केवल सकेतो से किया है। महामानव की

आत्मा शरीर का बन्धन नही मानती, वह मूकता मे ही अन्य आत्माओ तक अपने भावो का प्रसार करती है, रक्त और मास का बन्धन नही ; स्पिरिट और मैटर मे भेद नही ; जन-जन के भीतर जो एक आत्मिक एकता है, वाहर की विभिन्नताएँ उसके सामने परास्त हो जायँगी। तो क्या महामानवता मे पहुँच कर मनुष्य की स्थूलता लुप्त हो जायगी ? मगर, यह कैसे होगा ? वर्नमान स्पेसीज (Species) के सस्कार से अथवा एक नयी स्पेसीज के आविर्भाव से ? अरविन्द की कविता ने एक महान् जिज्ञासा का जन्म दिया है। किन्तु, समाधान के लिए हमे कव तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ?

●

कविता, राजनीति और विज्ञान

कविता की अवस्था कुछ बहुत अच्छी नही है। समस्त संसार मे आज राजनीति और विज्ञान की तुलना मे कविता का कँगूरा बहुत ही नीचे है। किसी समय कवि द्रष्टा और मनीषी तथा मनुष्य का नेता समझा जाता था, मगर, आज वह सिर्फ मनोरजन का साधन हो गया है। और मनोरजन भी ऐसा जिसकी कीमत सिनेमा और कार्निवाल से बहुत अधिक नही है। यो तो कवि-सम्मेलनो के प्रति देश मे बडी ही जागृति है और अखबारो मे भी हर रोज कम-से-कम तीस मन कविताएँ छपा करती है, मगर, इनका मूल्य सम्मान के स्तर पर शायद ही आँका जाता हो। कविताओ के पाठक वे लोग नही है, जिनके लिखने-बोलने या काम करने से देश की किस्मत मे तबादले होते हैं। हमारे सबसे प्रमुख श्रोता छात्र हैं, जिनमे जीवन का नया उन्मेष है, जिनमे ऊषा की ताजगी को सराहने की सलाहियत है; हमारे दूसरे पाठक गृह-देवियाँ हैं, जो कसीदे काढने के बीच-बीच कविताओ का भी आनन्द लेती हैं, और हमारे तीसरे श्रोता वे अल्पसख्यक लोग हैं, जो सभ्यता से चिढकर कभी-कभी शरणार्थी होकर हमारे कुजो मे चले आते हैं। मगर, ये ही छात्र जब पढ़-लिखकर जीवन मे प्रवेश करेंगे, तब उन्हे कविता पढने की फ़ुर्सत नही मिलेगी और आज जिन कवियो के गले मे वे पुष्पहार डालते हैं, उनकी याद वे जरा भी उत्साह के साथ नही करेंगे।

एक समय था, जबकि भोज की राजधानी मे डॉक्टरो और इन्जीनियरो को भी कुछ हद तक कवि होना लाजिमी था। आज वह समय है, जब कि डॉक्टर और इन्जीनियर कविता की ओर झाँकते भी नही तथा पहले जहाँ भोज और विक्रमादित्य कला का आनन्द लेने को अपने व्यस्त जीवन मे से काफी समय निकाल लेते थे, वहाँ आज शासको को कविता के लिए उतना समय मिलना भी असम्भव हो जाता है, जितना समय वे बीसियो फिजूल कामो मे खुशी-खुशी लगा देते हैं। कहते हैं, रोम जब अपने पूरे उत्कर्ष पर था, तब उसकी राजसभा मे देश के प्रसिद्ध लेखक और कवि आदर के साथ बिठाये जाते थे, वे राज की पार्लमिट के सदस्य बनाये जाते थे। किन्तु, अपने यहाँ विधान-परिषद् मे कोई व्यक्ति सिर्फ इसलिए नही रखा जा सका कि वह देश की कविता या चित्रकारी का प्रतिनिधि है। देश की पार्लमिटो मे कोई भूलकर भी उन सत्यो का उद्धरण नहीं देता, जिनकी स्थापना साहित्य मे की गयी है। सर राधाकृष्णन ही, शायद, एकमात्र अपवाद हैं। किन्तु उनकी सदस्यता इस बात का प्रमाण नही है कि देश की राजनीतिक सत्ता साहित्य के प्रति सम्मान रखती है। उल्टे, इससे तो यही सिद्ध होता है कि राजनीति साहित्य को तब तक अपने पार्श्व मे स्थान नही

दे सकती, जबतक कि उसे यह भरोसा नही हो जाय कि इसके अपनाने से मेरा मान बढेगा। अधिकार के आसपास पहुँचने के लिए योग्यता और लियाकत की जो सबमे बडी शर्त रखी गयी है, वह सिर्फ माहित्य के लिए है। दूसरे लोग तो चाहे जैसी भी योग्यता को लेकर अधिकार के कक्ष मे दाखिल हो सकते हैं। देश की सबसे बडी, सबसे शक्तिशालिनी और सबसे आदरणीय सार्वजनिक संस्था कांग्रेस के भीतर भी उन लोगो की पूछ नही है जो नाटक, सगीत, चित्रकारी या काव्य मे कोई चमत्कार उत्पन्न करते है। विज्ञान और राजनीति ने मिलकर एक ऐसी अवस्था पैदा कर दी है जिसमे साहित्य के पौधे उपेक्षित और म्लान होते जा रहे हैं।

राजनीति ने अब एक नया नारा निकाला है कि साहित्य राजनीति का रण-वाद्य है। ससार के एक बहुत ही प्रगतिशील देश ने अनुभवो से यह पता लगाया है कि राजनीति के सिद्धान्त अगर साहित्य के भीतर पचा दिये जायँ, तो वे मनुष्य के संस्कार बन जाते हैं और उन्हे फिर कोई हिला-डुला नही सकता। अतएव, उस देश के शासको की दृष्टि मे साहित्य का मान बहुत कुछ बढ गया है और कहा जाता है कि वहाँ साहित्यिको का दल सबसे सुखी और सम्मानित है। किन्तु, डूबकर देखने से पता चलेगा कि वहाँ भी गुलाब की प्रशसा के लिए जो पुरस्कार दिया जाता है, वह उस पुरस्कार से कही न्यून है जो गेहूँ के विकास के लिए अत्यन्त आदर के साथ प्रदान किया जाता है (गेहूँ और गुलाब की सूक्ति के लिए बेनीपुरीजी को धन्यवाद)। रूस की देखा-देखी अब हिन्दुस्तान मे भी राजनीतिक दल साहित्य का सहारा लेना चाहते हैं। हम मानते हैं कि यह उपेक्षा की अवस्था से अच्छी अवस्था है। किन्तु, इससे उस उद्देश्य की सिद्धि दुर्लभ होगी जिसके लिए साहित्य की आवश्यकता है।

साधारणत, जीवन मे साहित्य का वही स्थान है, जो फूलो, पक्षियो, घटाओं और नदियो का है। इनके बिना जीवन नीरस और धरती नि स्वाद हो जाती है। किन्तु, साहित्य की महत्ता वही तक सीमित नही रहती। साहित्य जब बढकर क्षितिज पर छाने लगता है, तब उसके भीतर से ऐसे नक्षत्र भी फूटते हैं, जिनकी रोशनी मे मनुष्य भविष्य की राह देखता है। अक्सर, लोग कहते हैं कि कला हमे उडाकर जीवन की धूल और धुएँ से बाहर ले जाती है। सम्भव है, यह ठीक हो। बल्कि, यो कहना चाहिये कि यह गलत नही है। मगर, कला मनुष्य को उडाकर जीवन के भीतर भी ले जाती है और पहली उडान तो तभी सार्थक समझी जायगी, जबकि दूसरी उड़ान भी साध्य हो। अगर कवि शून्य मे भरमाने के सिवा और कुछ नही करे तो उसका पद मद-विक्रेता से ऊपर हो ही नही सकता। जिसे आप पलायन-वाद कहते हैं, उसका मैं कटु-आलोचक नही हूँ, क्योकि मैं जानता हूँ कि कल्पना के महल मे जब तब बन्द हो जाने से

कवि की शक्ति का विकास ही होता है और उसकी वाणी कला के चमत्कारो से युक्त रहती है।

कवियो के विरुद्ध जो वातावरण तैयार हुआ है, उसका एक कारण यह भी है कि लोग कल्पना को एक ऐसी शक्ति मानते है, जिससे छोटी-छोटी बाते भी बडी बनाकर कही जा सके। कवि को देखते ही लोग उसे अत्युक्तिपूर्ण बाते बोलनेवाला और अव्यावहारिक मान लेते है। मगर, ये दोनो ही बाते गलत है। कल्पना केवल कवि के लिए ही नही, बल्कि, इतर जनो के लिए भी एक आवश्यक गुण है। कल्पना का उपयोग हम उन चीजो को देखने के लिए करते हैं, जिन्हे हमारी बाहरी आँखे नही देख सकती। कल्पना के जरिये हम उन आवाजो को सुनते हैं, जिन्हे हमारी बाहरी कान नही सुन सकते। और कल्पना के माध्यम से हम द्रव्यो के उस रूप का वर्णन करते है, जो रूप साधारण भाषा के माध्यम से व्यक्त नही किया जा सकता। जो कल्पना का निरादर करते है, वे जान-बूझ कर अन्धे हो रहे है। आँखो पर जो एक प्रकार का मोतियाबिन्द चढता है, कानो पर जो एक प्रकार की पपरी जमती है, उसे दूर करना कल्पना का काम है। कल्पना के बिना न तो कमल का सौन्दर्य देखा जा सकता है और न पक्षियो के गीत ही सुने जा सकते हैं। और तो और, कल्पना के बिना एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से प्रेम भी नही कर सकता। मनुष्य परस्पर भाई-भाई है, यह कल्पना का सत्य है, जो प्रत्यक्ष सत्यो से भी कही बलवान है। और हम हिन्दू और वह मुसलमान है, यह जीवन की कुरूपता की बोली है, जो सत्य होने पर भी घातक और विषाक्त है। कल्पना के अभाव ने ससार को युद्ध-शिविरो मे बाँट रखा है। कल्पना के प्राचुर्य्य से सारी दुनिया एक होगी। जहाँ कल्पना नही, वहाँ, निर्दयता होती है, जहाँ कल्पना नही, वहाँ भयकर स्वार्थ होता है और जहाँ कल्पना नही, वहाँ मृत्यु होती है।

विज्ञान और राजनीति के समान ही, साहित्य की भी अपनी सत्ता है और वे सब के सब जीवन की ओर ही उन्मुख होते है। मगर, अफसोस की बात है कि कुछ साहित्यकार भी अपने को जीवन की पहुँच से परे मानते है और तब भी वे चाहते है कि जीवन उनकी वाणी पर आसक्त रहे। ये दोनो बाते एक साथ नही चल सकती। आज तक साहित्य जीवन के साथ विकसित होता आया था, इसीलिए, लोग उसे अपने हृदय का हार बनाये हुए थे। किन्तु, विज्ञान के आगमन के साथ अवस्था बदलने लगी। जगलो मे इजनो की सीटी सुनकर वनदेवी और कविता की परी, दोनो ही, घबडा उठी और शहरो मे चिमनियो को धुआँ उगलते देखकर कवियो ने उनकी ओर से अपनी आँखें फेर ली। कवि विज्ञान से विमुख होता गया और विज्ञान भी उसी अनुपात मे साहित्य से बौद्धिकता का हरण करता गया। आज जनमत यह मानने लगा है कि बौद्धिकता का सारा कोष

विज्ञान के पास है , कवि तो सिर्फ गाना गाता है । और ऐसे जनमत के वन जाने से जो शाप निकले हैं, उन्हे साहित्यकार खूब ही भोग रहा है । अपने देश में उद्योग अभी कम फैले हैं, इसलिए समस्या की गहनता को हम ठीक से नही समझ सकते । किन्तु, औद्योगिक देशो मे आज साहित्य की सबसे बडी समस्या यही है कि विज्ञान के साथ साहित्य का क्या सलूक हो ।

बात चिन्ता की जरूर है ; क्योकि कविता का जन्म जादू और विस्मय से हुआ था और विज्ञान इन दोनो का दुश्मन है । किन्तु, बाल-कालीन विस्मय से निकलकर कविता ने बुद्धि के साम्राज्य पर शासन किया है । हम यह क्यो भूले कि सत्य के सम्बन्ध मे मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह कला के माध्यम से भी उसी प्रकार व्यक्त किया जा सकता है जैसे विज्ञान के माध्यम से ? जिस कला ने पेड, पर्वत, समुद्र और रेगिस्तान को आत्मसात् कर दिखाया, वह क्या कारखानो और आकाशगामी विमानो को ही नही पचा सकेगी ? विज्ञान अगर मनुष्य-समाज मे ठहरने को आया है, तो कविता उसकी कुरूपता को भी रगीन बना डालेगी । कहते हैं, विज्ञान के पास आत्मा नही है । हम मानते है कि वह चाहे तो कविता से अपनी आत्मा ले सकता है ।

हम विज्ञान का अनादर नही करते । किन्तु, हम देख रहे है कि वह सिर्फ मूर्तियो की रचना करना जानता है ; प्रतिमाओ के मुख मे वह जीभ नही दे सकता और न उनके हृदय को ही जीवित कर सकता है । नतीजा यह हुआ है कि देश-देश मे विज्ञान की प्रतिमाएँ आपस मे टकरा रही है और सारा ससार कोलाहल से परिपूर्ण है । विज्ञान-विरचित प्रतिमाओ के भीतर अगर हृदय नाम की कोई जानदार चीज हुई होती, तो ये प्रतिमाएँ आपस मे प्रेम करके विश्वकल्याण को सम्भव कर दिखाती । किन्तु, यह काम साहित्यकारो के लिये रुका हुआ है, क्योकि दर्शन और विज्ञान के लक्ष्य को भी प्राप्त करने के लिये मनुष्य को क्रियारूढ करना साहित्य का ही काम है ।

यह सच है कि युद्ध को मनुष्यो के मन मे एक आकर्षक भाव बनाकर स्थापित करने का अपराध साहित्य ने ही किया है । किन्तु, एटम के अनुसधान से युद्ध नही रुकेगा । उसे रोकने के लिये तो मनुष्य के मन से इस भाव को ही दूर करना होगा कि युद्ध कोई आकर्षक, प्राणप्रेरक या प्रिय पदार्थ है । साहित्य ने मनुष्य को युद्ध का प्रेमी बनाया । और यह उसी का दायित्व और उसी के बूते की बात है कि वह मनुष्य की दृष्टि मे युद्ध को घृणास्पद बना दे । दुनिया के सामने आज जो यह सबसे ऊँचा सवाल है, उसका हल राजनीति या विज्ञान नही निकाल सकता ।

मैं कविता को जीवन तक पहुँचने की सबसे सीधी और सबसे छोटी राह मानता हूँ । यह मस्तिष्क नही, हृदय की राह है । मस्तिष्क ने ससार को भयकर उलझनो मे डाल रखा है और इन उलझनो से वह तब तक नही निकल सकता,

जब तक कि वह हृदय की राह नही पकडे। तुलसीदासजी ने जो "ज्ञान को पन्थ कृपान के धारा" कहा था, वह आज के ससार मे पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रहा है। दिमाग से निकली हुई एक के वाद दूसरी योजनाएँ असफल होती जा रही है, फिर भी लोग दिल की राह नही पकडते। मगर, दिमाग, शायद, अभी थका नही है। जिस दिन वह पूर्ण रूप से थक जायगा, उस दिन ससार हृदय के उस भाग पर चलने को विवश होगा जो मार्ग गाँधीजी वता गये है।

मैंने कहा कि राजनीति की ओर से साहित्य की जो आराधना शुरू हुई है, वह कोई वुरी चीज नही है। किन्तु, मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि साहित्य राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके मनुष्य का कल्याण नही कर सकता। जनता साहित्य का विश्वास सिर्फ इसलिए करती है, क्योकि झूठ वोलना अथवा मिथ्या-प्रचार साहित्य के स्वभाव के विरुद्ध है। जनता के अवचेतन मे कौन-सी कामनाएँ ऊँघ रही हैं, जनता के विकास की भावी दिशा क्या होनी चाहिये, ये वातें सवसे पहले साहित्य को ही मालूम होती है और इसीलिए साहित्यकार को यह आजादी रहनी चाहिए कि वह अपने हृदय की वात को निर्भीकतापूर्वक कहे और यह आजादी उन्हे भी नही अखरनी चाहिये जो साहित्य के प्रतिपालक के पद पर आरूढ होते है।

अगर कवि सघर्ष के भीतर विठलाया जाता है तो सघर्ष से ऊपरवाली जगह भी उसी की होनी चाहिए। कवि की उदारता, कवि की सहानुभूति और कवि का रोने का अधिकार कही भी सीमित नही किया जा सकता। क्योकि इस भयकर ससार मे वही तो एक ऐसा जीव है जो "एक दल का पक्ष लेते हुए भी अपनी सहानुभूति का अर्द्धांश शत्रुओ के लिये भी सुरक्षित रखता है।"

गाँधी से मार्क्स की परिष्कृति

समाज मे गरीबी और विषमता की समस्या, आदिकाल से ही मौजूद रही है और जितने भी अवतार, नबी और पैगम्बर तथा सुधारक पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए, उन सब ने इसके जहर का अनुभव किया और सबने घूम-फिरकर गरीबी की सत्ता को स्वीकार कर लिया तथा लोगो से कहा कि जो अभाव से पीडित हैं उनके लिए अपने सुखो का त्याग करो।

लेकिन, जब मार्क्स आये, उन्होने सारी स्थिति का विधिवत् अध्ययन करके कहा कि गरीबी कोई दैवी-सत्ता-कृत अटल वस्तु नही है और न दान इसका उपचार है। दर-असल, समाज मे गरीबी इसलिए फैली हुई है कि समाज की पद्धति शोषण को स्वीकार करती है और शोषण से चोर पैदा होते है। ये चोर धन जमा करने वाले चोर हैं और ये चोर जब तक मौजूद रहेंगे, तब तक समाज मे गरीबी भी कायम रहेगी। अतएव, समाज से गरीबी को दूर करने का तरीका दान नही, बल्कि, क्रान्ति और उच्छेद है।

मार्क्स, शायद, मानवता के पहले पैगम्बर है जिन्होने गरीबी की सत्ता को स्वीकार नही किया। मगर, क्रान्ति के जिन साधनो को उन्होने अंगीकार किया, वे इतिहास के पुराने साधन थे। फिर भी, उन्होने स्पष्ट संकेत किया कि क्रान्ति के रक्तमिश्रित साधनो का प्रयोग तभी करना चाहिए जब प्रतिपक्षी कमजोर हो और जनता के अधिक से अधिक सदस्य क्रान्तिकारियो के साथ हो जिससे क्रान्ति के सिलसिले मे कम-से-कम रक्त-पात हो।

किन्तु, यह बात चली नही। क्रान्ति जब आने लगी तब भी उसने समाज के अनन्त जीवों, विश्वासो और मूल्यो को तहस-नहस कर डाला और जब वह आकर सिंहासन पर बैठ गयी, तब भी उसे रोज ही लहू की प्यास सताती रही। वह अपने पक्ष की प्रबलता को जानती है और वह यह भी जानती है कि समस्त संसार के बुभुक्षित और त्रस्त मनुष्य उसकी ओर आशाभरी दृष्टि से देख रहे है। भला, जिसके उद्देश्य इतने पवित्र और महान् हो, उसे डर किसका है?

किन्तु, तब भी भय और आशंकाएँ झूठ नही, सच है। क्रान्ति इस बात से नही डरती कि लोग उसके उद्देश्य को झुठलाने की हिम्मत करेंगे, क्योकि अब संसार मे ऐसे बेहया लोग आगे नही हैं जो सामाजिक विषमता को श्रेष्ठ बताने अथवा पूँजीवाद के शोषण का समर्थन करने की हिम्मत कर सके। मगर, तब भी क्रान्ति को भय लगा है, क्योकि जिस रास्ते से वह आयी है, वह रास्ता मान-वीयता के शान्तिमय विकास और मानव-स्वभाव की उन्नति का रास्ता नही है, वह रास्ता ऐसा नही है जिसे मनुष्य स्वेच्छा से अथवा समझ-बूझकर स्वीकार कर

मगर, मनुष्य की वैयक्तिक स्वच्छन्दता की बात इतनी सूक्ष्म है कि लोग उसकी आवश्यकता को उपेक्षित छोड देते हैं। ससार के नेताओ की दृष्टि मनुष्य के व्यक्तित्व को छोडकर उसकी दौलत पर चली गयी है। आज वे सभी विद्याएँ गौण अथवा हेय हो गयी हैं जो मनुष्य के वाह्य रूप को छोडकर उसकी आन्तरिक आवश्यकताओ की व्याख्या करती थी। जो लोग मनुष्य के नेता है, जिनपर मानव-समाज के संचालन का भार है, वे, प्रायः राजनीति, अर्थनीति और समाज-विज्ञान की रेखाएँ पकडकर चल रहे है। वे मनुष्य पर नही सोचकर उस समाज की रूप-रेखा पर विचार कर रहे हैं जिसमे वे मनुष्य को रखना चाहते हैं। वे धन के उत्पादन के विषय मे सोचते हैं, वे धन के वितरण के सवन्ध मे विचार करते है, वे संपत्ति के आधार पर बने हुए उस समाज के रूप का चिन्तन करते है जिसकी कल्पना उन्हे रुचिकर प्रतीत हुई है और जिसमे वे मनुष्यो को जवर्दस्ती ठूंस देना चाहते है। किन्तु, यह तो साधनवाला पहलू है। असल उद्देश्य तो मनुष्यो को सुख और आनन्द देना है। मनुष्य के सम्वन्ध मे जो अन्तिम प्रश्न है, उसमे यह नही पूछा जाता कि किसने कितना कमाया ; वल्कि यह कि किसे कितना प्राप्त हुआ ? सन्तोष, आनन्द और प्रसन्नता ही वह तुला है जिस-पर हम समाज की प्रगति का असली मूल्याकन कर सकते हैं। सिर्फ समाज के ढांचे को ठीक समझकर यह समझ लेना कि उसमे रहनेवाले व्यक्ति भी सुखी हैं, न्याय नही है। साधनो का अन्तिम मूल्य व्यक्ति मे आंका जाता है, समाज मे नही। आखिर समाज की रचना का उद्देश्य उसके सदस्यो को सुखी वनाने के सिवा और हो भी क्या सकता है ? इतने वैज्ञानिक आविष्कारो, सुख के इतने अधिक साधनो और मनुष्य-समाज मे आयी हुई इतनी वडी जागर्ति के होते हुए भी अगर मनुष्य सुखी नही हो रहा है, तो इसका प्रधान कारण यह है कि मानव-समाज के नेता मनुष्य को भूलकर उस गृह की रचना मे उलझ गये है जिसमे मनुष्य को निवास करना है।

और यही वह विन्दु है जहाँ गांधीजी का सिद्धात मनुष्यता का सहायक हो सकता है। गांधीजी और मार्क्स के वीच जो एक प्रकार की खाई खोदी जा रही है, वह उचित नही है ; क्योकि जो आदमी मार्क्स के यहाँ से घवराकर भागेगा, वह गांधीजी के यहाँ भी त्राण नही पा सकता। जिसे यह भय है कि मार्क्स उसकी दौलत को छीन कर सर्वहारा मे वांट देगा, वह जव गांधीजी के पास जायेगा, तव गांधीजी भी उससे यही कहेगे कि जिन चीजो की तुम्हे नितान्त आवश्यकता नही है, वे चीजें तुम्हारी हो ही नही सकतीं। तुम्हारा धर्म है कि तुम स्वेच्छा से इन फाजिल चीजो को समाज के स्वामित्व मे दे दो।

गांधीजी की कल्पना का समाज इकाइयो का समाज है। उसमे प्रधानता समूह की नही, वल्कि, व्यक्ति की है। समाज के रोग के निदान के लिए वे

समाजरूप रोगी की कल्पना नही करते, वल्कि, रोगी तो वे एक-एक सदस्य को मानते हैं और रोग-निवारण के लिए भी वे समाज के ढाँचे पर प्रहार नही करके व्यक्ति को ही समझाते हैं। एक तरह से यह वात ठीक भी है ; क्योकि समाज की व्यक्तियो से भिन्न कोई अलग सत्ता तो नही मानी जा सकती। समाज के पापी होने का अर्थ उसके सदस्यो का ही पापी होना है और अगर हम समाज को सुधारना चाहते है, तो इसका स्पष्ट उपाय उसके व्यक्तियो मे ही सुधार लाना है।

गाँधीजी की दृष्टि मे संसार की सभी समस्याएँ उसमे वसनेवाले व्यक्तियो की समस्याएँ हैं और इन समस्याओ के समाधान का मार्ग व्यक्ति के दृष्टिकोण मे परिवर्त्तन लाने का मार्ग है।

सस्कृति के विषय मे कहा जाता है कि हम एक सस्कृति को विनष्ट करके दूसरी सस्कृति का प्रचार नही कर सकते, क्योकि सस्कृति विनष्ट नही, रूपान्तरित होती है। गाँधीजी भी एक समाज को विनष्ट करके दूसरे समाज की स्थापना की कल्पना नही करते, प्रत्युत, उसका रूप वदल देना चाहते है। जमे हुए पानी को वे उलीचकर फेंकना नही चाहते, वल्कि वे वहने का मार्ग वताकर उसे स्वय कम करने देने के पक्षपाती हैं। यह भी एक प्रकार की क्रान्ति है और सफल हो तो, शायद, मार्क्सवादी क्रान्ति की अपेक्षा यह अधिक दीर्घायु भी हो सकती है। किन्तु, इस क्रान्ति की प्रक्रिया दमन और निर्दलन नही, प्रत्युत, मूल्यो मे परिवर्त्तन लाना है।

अन्तिम ध्येय के क्षेत्र मे भी गाँधीजी और मार्क्स एक दूसरे से दूर नही हैं। दोनो का ही कहना है कि मनुष्य को एक शासनहीन समाज चाहिये, जिसमे पुलिस, मैजिस्ट्रेट और सेना की आवश्यकता नही हो। किन्तु, मार्क्सवादी क्रान्ति के समर्थक आरम्भ मे सारी सत्ता शासन को दे देना चाहते हैं। "सारे अधिकार सरकार को दो जिससे कि एक दिन वह अधिकारविहीन हो जाय"—यह उक्ति लोगो को अचरज मे डालनेवाली उक्ति है। किन्तु, मार्क्सवादियो का विश्वास है कि हम काफी दिनो तक लोगो को लाठी से हाँककर उन्हे इस योग्य वना देंगे कि उन्हे फिर हाँकने की जरूरत नही रह जाय। इसके विपरीत, गाँधीजी आरम्भ से ही व्यक्ति को स्वावलम्बी और स्वाधीन रखना चाहते हैं। सर्वोदय की पचमुखी योजना यह है कि भोजन, वस्त्र, गृह, शिक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे सारे अधिकार जनता के पास अक्षुण्ण रहने चाहिये जिससे कि जीवन के इन अनिवार्य उपकरणो के मामले मे जनता को सरकार का आश्रय नही लेना पड़े और जनता मे इतनी स्वाधीनता हर वक्त मौजूद रहे कि वह जब चाहे सरकार के खिलाफ खड़ी हो जाय।

गाँधीजी की योजना मे जनता की प्रगति तथा शासन की अधोगति के काम साथ-साथ चलते हैं। उनकी कल्पना का सर्वोदय समाज एक प्रकार का

स्वावलम्बी एवं विकेन्द्रित समाज है जिसमे जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के अधिकार जनता के हाथो मे अक्षुण्ण रहते हैं।

किन्तु, गांधीजी के सकेतो को ससार किस रूप मे ग्रहण करेगा, यह अभी ठीक मालूम नही होता। साम्यवाद अगर मानवता के लिए एक क्रान्तिकारी लक्ष्य है, तो इसमे कोई सन्देह नही कि इस क्रान्ति का विधाता मार्क्स है। किन्तु, मार्क्स ने क्रान्ति के साधनो मे कोई क्रान्ति नही की। मगर, गांधीजी के अहिंसक उपायो को ससार ने ग्रहण किया, तो यह क्रान्ति साधनो की भी क्रान्ति समझी जायगी।

एक बात और है जिसे हम एवोल्यूशन या विकास कहते है। उसकी गति बहुत ही धीमी होती है। चिन्तक आते हैं; सुधारक आते है; लडाइयाँ होती है; नाना प्रकार के प्रयोग किये जाते है और तब भी शताब्दियो के बाद आदमी वही घूमता-फिरता दिखायी देता है, जहाँ वह पहले था। मगर, कभी-कभी एक ही व्यक्ति आकर मानवता के रथ को इस प्रकार झकझोर डालता है कि प्रगति कुछ अधिक स्पष्ट हो जाती है और चक्को का आगे घूमना हम देखने लगते है। गांधीजी ने भी अपने प्रयोगो के द्वारा, अपने जीवनकाल मे ही, मानवता के रथ को कुछ स्पष्ट प्रगति दी है। आज हम विश्व मे जो यह गुनगुनाहट सुन रहे है कि साधन की पवित्रता उपेक्षणीय नही है, उसका कारण सिर्फ यही नही है कि दुनिया मारकाट और खूँरेजी की पद्धति से ऊब गयी हैं, बल्कि यह भी कि गांधीजी के अहिंसक प्रयोग ने भारतवर्ष मे जो सफलता प्राप्त की, उससे भारत और भारत के बाहर के लोगो की आँखे खुल गयी है और वे गांधीजी के प्रयोग के आलोक मे अपने मतो और विश्वासो मे सशोधन लाने की बात सोच रहे हैं।

गांधीजी ने जिस रथ मे प्रगति दी है, उसके चक्के का घूमना हम देख रहे है। निश्चय ही, गांधीवाद और कुछ होने की अपेक्षा विकास की ही एक सुनिश्चित प्रक्रिया का द्योतक है। पशुता से और भी अधिक दूर जाओ, यह विकासवाद की पुकार है। श्रेणीहीन समाज एक अविचल लक्ष्य है। किन्तु, हम उसे कैसे प्राप्त करेंगे? मारकाट, खूँरेजी और "कूप" से अथवा मनुष्य के भीतर उच्च मानवता को जगा करके? हम मनुष्य के शरीर ही नही, उसकी आत्मा की भी रक्षा करना चाहते है। जो लोग मार्क्सवादी प्रयोगो से थक गये हैं, उन्हे निराश नही होना चाहिये, क्योंकि गांधीजी इसी प्रयोग के दूषण को दूर करने को आये हैं। मार्क्स ने मानव-समाज का लक्ष्य बदल दिया। गांधीजी मनुष्य को उस लक्ष्य तक जाने की निर्मल राह बतायेंगे। मगर पहले कहाँ? भारत मे या भारत से बाहर? उत्तर देना कठिन है।

●

गुप्तजी, कवि के रूप में

स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त का नाम कवि के रूप मे कम, आलोचक और निबन्धकार के रूप मे अधिक विख्यात है। हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास मे वे एक उच्च कोटि के पत्रकार के रूप मे भी समादृत है। सुगठित एव प्राजल गद्य के वे एक ऐसे आचार्य हो गये हैं, जिनका लोहा आचार्य द्विवेदीजी को भी मानना पडा था। किन्तु, पद्य भी उन्होने कम नही लिखे और उनके समय मे हिन्दी-कविता की जो अवस्था थी, उसे देखते हुए उनके पद्य उपेक्षणीय तो नही ही कहे जा सकते।

गुप्तजी की कविता के साथ न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके समय को ध्यान मे रखे तथा यह बात भी याद रखे कि, प्राय, पच्चीस वर्ष की उम्र तक हिन्दी-भाषा से उनका कोई विशेष सम्पर्क नही था। आरम्भ मे उन्होने अपने लिए उर्दू-पत्रकार का जीवन चुना था। हिन्दी के क्षेत्र मे तो वे बाद को आये और वह भी मालवीयजी के अनुल्लड्घनीय आग्रह के कारण।

तुलसीदास के बाद हिन्दी-साहित्य मे सबसे बडी क्रान्ति भारतेन्दु-युग मे हुई। साहित्य के अन्य क्षेत्रो की बात तो जाने दीजिये, एक कविता के ही क्षेत्र मे भारतेन्दुजी ने क्या परिवर्त्तन कर दिखाया, इसे वे ही समझ सकते है, जिन्होने भारतेन्दु के पूर्ववर्ती कवि पजनेस और द्विजदेव की रचनाओ के साथ भारतेन्दु-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन किया हो। यह ठीक है कि भारतेन्दु-काव्य की सरसता उनके उत्तराधिकारियो की रचनाओ मे नही मिलती, किन्तु, अपनी रचनाओ के द्वारा भारतेन्दुजी ने साहित्य की भूमि मे जो अभिनव बीज गिराये थे, उनमे से एक विनष्ट नही हुआ तथा उनकी मृत्यु के पचास वर्ष बाद तक हिन्दी-साहित्य मे जो भी हरीतिमा विकसित होती रही है, वह किसी-न-किसी रूप मे भारतेन्दु-कालीन क्रान्ति से सम्बद्ध है। तफसील मे न जाकर हम भारतेन्दु की दो बातो का उल्लेख यहाँ करना चाहते है। पहली बात तो यह है कि भारतेन्दुजी की कितनी ही कविताओ मे हम एक ऐसा नवीन स्वर पाते हैं, जो पहले के सभी स्वरो से भिन्न है तथा जो हिन्दी-कविता मे आगे चलकर उत्पन्न होनेवाले रोमाटिक आन्दोलन की क्षीण, किन्तु, सुनिश्चित पूर्व सूचना देता है। और, दूसरी बात यह है कि भारतेन्दुजी ने पहले-पहल समकालीन दुरवस्थाओ को साहित्य के कोमल हृदय मे स्थान देना आरम्भ किया तथा कविता के माध्यम का उपयोग वे जन-चेतना को जगाने के लिए करने लगे। इस प्रकार, वे सिर्फ रोमाटिक आन्दोलन के ही पूर्वपुरुष नही, बल्कि, हिन्दी के प्रगतिवादी आन्दोलन के भी पिता के समान हैं।

भारतेन्दुजी ने रोमांटिक धारा की जो सूचना दी थी, वह उनके बाद बहुत दिनो तक इतिवृत्तात्मकता के सिकता-समूह मे विलीन-सी पड़ी रही और बीसवी सदी के दूसरे दशक से पूर्व उसका स्पष्ट उद्रेक कही भी दिखाई नही पडा। किन्तु, प्रगतिवादी धारा का जो उत्स उनकी वाणी मे फूटा था, उसने कभी भी विश्राम नही लिया तथा उनके उत्तराधिकारियो मे से जो भी कवि कविता की ओर उन्मुख हुए, उन्होने अपने समय की देश-दशा को जरूर प्रमुखता दी।

इस दृष्टि से बाबू बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु के सच्चे वारिसो मे से थे। उनके पद्यो मे सौन्दर्य की सृष्टि कम, समय के चित्रण का प्रयास कही अधिक है। उनका काव्य-काल काग्रेस के तीन-चार साल बाद प्रारम्भ होता है। अतएव, हम देखते है कि राजनीति की ओर वे भारतेन्दु की तरह सावधान रहकर सकेत नही करते, बल्कि, उन्हे जो कुछ कहना होता है, उसे वे बडी ही निर्भीकता से कह जाते हैं। स्वदेशी-आन्दोलन के समय इन्होने जो कविताएँ लिखी थी, वे तो, प्राय., उतनी ही निर्भीक है, जितनी काग्रेस-आन्दोलन के समय लिखी गयी अन्य कवियो की कविताएँ मानी जा सकती है। इङ्गलैण्ड मे लिबरल पार्टी की जीत के समय सन् १९०६ ई० मे उनकी "पालिटिकल होली" नामक जो रचना "भारतमित्र" मे छपी थी, उसमे उन्होने बड़ी स्पष्टता के साथ उस सिद्धान्त का निरूपण कर दिया था, जिस पर भारतवर्ष, प्रायः, सन् १९४२ तक चलता रहा :—

> ना कोई लिबरल ना कोई टोरी, जो परनाला सोही मोरी,
> दोनो का है पन्थ अघोरी, होली है, भई, होली है।
> करते फुलर विदेशी वर्जन, सब गोरे करते हैं गर्जन,
> जैसे मिण्टो वैसे कर्जन, होली है, भई, होली है।

उन्नीसवी सदी के अपरार्द्ध का भारतवर्ष एक अपमानित, प्रताडित, रुग्ण और दुर्भिक्ष-पीडित देश था। अगरेजो ने अपने शासन के साथ देश की छाती पर जो अनेक अभिशाप लादे थे, उनमे से दीनता, अकाल और प्लेग की भयङ्करता अत्यन्त कराल थी तथा हिन्दी के तत्कालीन कवि शासको को किसी भी प्रकार क्षमा करने की मुद्रा मे नही थे। प्लेग को तो भारतवासी सीधे अँगरेजो की देन समझते थे, जो बात बिल्कुल ठीक भी थी। गुप्तजी ने "प्लेग की भूतनी" नामक जो विचित्र कविता लिखी थी, उसमे एक स्थान पर हम प्लेग को अँगरेजो पर ही टूटते देखते है :—

> आओ आओ रे अंगरेज।
> ठहरो ठहरो भागे कहाँ? खाऊँगी, पाऊँगी जहाँ,
> फोड़ खोपड़ी भेजा खाऊँ करके रेजारेज।

प्लेग को, उसे भारत मे लानेवाले अँगरेजो पर ललकारने मे जो एक प्रति-शोधात्मक भाव है, वह सहज ही समझ मे आ जाता है। इसी कविता मे गुप्तजी

ने बूढो पर भी एक कटु व्यङ्ग्य किया है, जसा व्यङ्ग्य प्रत्येक युग के अल्हड़ नौजवान अपने समय के सत्तारूढ वयस्क लोगो पर किया करते है। प्लेग कहती है :—

कच्चे कच्चे लड़के खाऊ युवती और जवान,
बूढ़े को नही हाथ लगाऊँ, बूढ़ा बेईमान।

जवानी का अर्थ है साहस, त्याग और प्रयोग करने की आकाक्षा। बुढापे की निशानी अगति, रक्षण और अनुदारता है। गुप्तजी का वोट जवानी के पक्ष मे था। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानो को काग्रेस से बचे रहने का जो उपदेश दिया था, उससे गुप्तजी तिलमिला उठे थे और अपना क्षोभ उन्होने "सर सैयद का बुढापा" नामक लम्बी कविता मे प्रकट किया था, जिसकी आरम्भिक पक्तियाँ ही भयङ्कर प्रहार करनेवाली थी :—

बहुत जी चुके बूढ़े बाबा, चलिये मौत बुलाती है,
छोड़ सोच मौत से मिलो जो सबका सोच मिटाती है।

उन्नीसवी सदी के अपरार्द्ध के कवि अपने देश की दरिद्रता और समाज मे फैली हुई विषमता से किस प्रकार ऊबे हुए थे, यह बात भी "सैयद का बुढ़ापा" शीर्षक कविता से स्पष्ट मालूम होती है। आश्चर्य यह है कि आज हम अपने को प्रगतिवादी सिद्ध करने के लिए कविता मे जितनी दलीलो को एकत्र करने के आदी हो गये है, वे सारी दलीले गुप्तजी ने बडी ही स्वाभाविकता के साथ पहले ही उपस्थित कर दी थी .—

"हे धनियो ! क्या दीन-जनो की नहि सुनते हो हाहाकार ?
जिसका मरे पड़ोसी भूखा, उसके भोजन को धिक्कार।"

× × ×

"भूखों की सुधि उसके मन में कहिये किस पथ से आवे,
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे ?"
"फिर भी क्या नंगे-भूखो पर दृष्टि नहीं पड़ती होगी ?
सड़क कूटनेवालों से तो आँख कभी लड़ती होगी।"
"कभी ध्यान में उन दुखियो की दीन-दशा भी लाते हो ?
जिनको पहरो गाड़ी घोड़ों के पीछे दौड़ाते हो।"
"लू के मारे पखेवाले की गति वह क्योकर जाने ?
शीतल खस की टट्टी में जो लेटा हो चादर ताने।"

× × ×

"जिनके कारण सब सुख पाये, जिनका बोया सब जन खायें,
हाय, हाय, नित उनके बालक भूखो के मारे चिल्लायें।"
"हाय, जो सबको गेहूँ दें वे ज्वार बाजरा खाते हैं,
वह भी जब नहिं मिलता तब वृक्षो की छाल चबाते हैं।"

इन पक्तियों मे शैली का वह निखार तो नही है, जो आज देखने मे आता है, किन्तु कौन कह सकता है कि इनमे निरूपित सत्य कही से भी कमजोर है ?

सर सैयद की फिलासफी ने देश का सत्यानास किया। अगर सर सैयद का जन्म इस देश मे नही हुआ होता, तो सम्भव था, मुसलमान कुछ अधिक हिम्मत से काम लेते और अपनी किस्मत की डोर कांग्रेस के साथ बाँधकर राष्ट्रीयता को शक्ति पहुँचाते; जिसके लिए काग्रेस उनसे बार-बार प्रार्थना कर रही थी। सर सैयद का विरोध उर्दू-साहित्य मे महाकवि अकबर ने बडे जोर से किया था। किन्तु, हिन्दी-कविता मे यह विरोध, शायद, गुप्तजी की ही कविता मे ध्वनित हुआ है।

अकबर से गुप्तजी की समता और भी कई बातो को लेकर है। दोनों ही अँगरेजो के खिलाफ और उनके आलोचक थे। दोनो ही योरोप से आनेवाली रोशनी को नापसन्द करते थे और दोनो ही सुधारो के नारो से घबराते थे तथा दोनो ही ने अपने मतामत के प्रकाशनार्थ कटूक्तिपूर्ण पद्यो का माध्यम चुना था। किचनर और कर्जन के झगडे में जब कर्जन की हार हुई, तब अकबर ने चार पक्तियो का एक बन्द लिखा था, जिसकी "देख लो, यह जन पै नर गालिब हुआ" नामक पक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है। उन्ही दिनो गुप्तजी भी कितनी ही पंक्तियो मे कर्जन की पूरी खबर ले रहे थे। किचनर सेनापति था और कर्जन वायसराय। अतएव, वायसराय के हारने पर उन्होने आनन-फानन लिख दिया :—

"कलम करे कितनी ही चर-चर
भाले के वह नहीं बराबर।"

एक बार कर्जन ने हिन्दुस्तानियो को झूठा कह दिया था, जिस पर अकबर साहब ने लिखा था :—

'हम झूठे हैं तो आप हैं झूठो के बादशाह।"

अकबर साहब की पक्ति बडी ही सटीक बैठी है। किन्तु, इसी घटना पर गुप्तजी ने भी कर्जन की काफी खबर ली थी :—

"मन में कुछ मुँह में कुछ और, यही सत्य है कर लो गौर।
झूठ को जो सच कर दिखलावे, सोही सच्चा साधु कहावे।
मुँह जिसका हो सके न बन्द, समझो उसे सच्चिदानन्द।"

सुधारो के प्रति जिस अनास्था का परिचय अकबर ने दिया है, उसीसे गुप्तजी भी आक्रान्त थे। प्राचीन परम्परा के प्रतिनिधि होने के कारण वे सुधारो के प्रत्येक आन्दोलन को शङ्का की दृष्टि से देखते थे। कही-कही तो ऐसा मालूम होता है, मानो, सुधारो के नारो के बीच उन्हे वास्तविकता ही लुप्त होती दिखायी दे रही हो :—

हाथी यह सुधार का लोगो, पूँछ उधर भई, पूँछ इधर।
आओ, आओ, पता लगाओ, सूँड किधर भई, मूँड किधर।
इधर को देखो, उधर को देखो, जिधर को देखो, दुम ही दुम।
बोल रहा हूँ, चाल रहा हूँ, सूँड भी गुम, भई, मूँड भी गुम।

गुप्तजी ने प्रकृति-वर्णन और भक्ति के भी पद्य लिखे हैं। किन्तु, साहित्य के इतिहास मे उनका वैसा महत्त्व नही, जैसा उनकी हास्य-मिश्रित कटूक्तियो का हो सकता है। ये कटूक्तियाँ ही उनका वह शस्त्र थी, जिनके माध्यम से वे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर वार करते थे। आगे चलकर रूप तो इनका भी बदल गया; किन्तु, यह धारा बहती ही गयी और गुप्तजी से बादवाला साहित्य इस धारा को अब तक भी पुष्ट ही करता आया है।

गुप्तजी ने काव्य की प्रेरणा प० प्रतापनारायणजी मिश्र से ली थी और मिश्रजी के दृष्टिकोण का उनपर गहरा प्रभाव भी पडा था। इन महापुरुषो की कविताएँ आज उतनी गम्भीर भले ही न दीख पडे, पर उस समय समाज मे जागरूकता तथा निर्भयता उत्पन्न करने मे उन्होने बडा काम किया था।

कविवर मधुर

बलिया के श्री रामसिंहासन सहाय जी "मधुर" हिन्दी के एकमात्र कवि है जिन्होने श्री भारतीय आत्मा की सरणी पर चलकर अपना विकास किया है। वे, प्रायः, १९२० से लिखते आ रहे हैं, किन्तु, अब तक भी उनकी रचनाओ की सख्या, शायद दो सौ से अधिक नही है। उन्होने बहुत ही कम लिखा है, किन्तु, जो कुछ भी लिखा है, प्रेरणा की मुद्रा और अनुभूति की बेचैनी में लिखा है। इतना कम लिखने का एक कारण यह भी है कि जिस शैली मे वे लिखते हैं, वह शैली विचारो से अधिक अनुभूति की तीव्रता और उक्ति की विचित्र वक्रता लिये रहती है और उसमे जितना चाहे उतना लिख डालना सम्भव नही दीखता। विचारो को छन्दो मे उँड़ेल देना अपेक्षाकृत कुछ सुगम कार्य है, किन्तु, अनुभूतियो को विलक्षण शैली मे लिखना, स्वभावतः ही, कुछ कठिन हुआ करता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि स्वयं माखनलाल जी की रचनाओ की सख्या भी कुछ बहुत अधिक नही है। उनकी कविताएँ भी हम शब्दो की सजावट और भाषा तथा विचारो के चमत्कार के लिए नही, बल्कि, अनुभूति की वेधनेवाली सचाई एवं उक्ति की वक्रता के लिए ही पढते हैं। और ये दुर्लभ गुण मधुर जी की कविताओ का भी मेरुदण्ड हैं, यद्यपि, मधुर जी के प्रयास कही-कही ढीले मालूम होते हैं, मानो, लिखनेवाला कुछ जल्दी में रहा हो; मानो, जो शैली उसका लक्ष्य है, उसकी बारीकियो और पूरी कसावट तक पहुँचने की धीरता का उसमे अभाव हो।

याद आता है कि सन् १९२८ ई० मे मैंने "मधुर लहरी" नामक उनकी एक छोटी-सी पुस्तिका देखी थी जिसमे छोटी-छोटी कोई पन्द्रह-बीस कविताएँ सगृहीत थी और जिसकी भूमिका स्वयं पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी ने लिखी थी। उन दिनो, मैं अपने लिए अभिव्यक्ति का कोई नया मार्ग ढूँढ रहा था (जिसकी तलाश, शायद, अभी भी खत्म नही हुई है) और मुझे जो भी चीज कुछ नयापन लिये मिलती थी, उसे मैं बडे ही चाव से पढा करता था। इस छोटी-सी विचित्र पुस्तक ने मेरी मनोदशा के निर्माण मे बडा ही प्रभाव डाला और जिसे मैं नयी राह कहता था, उसका पता लगाने या रचना करने मे उससे मुझे अच्छी प्रेरणा मिली। "मधुर लहरी" की वह प्रति मैंने अपने एक मित्र से लेकर देखी थी, अतएव, १९२८ के बाद उसके फिर कभी दर्शन नही हुए। किन्तु, दो-तीन दिनो के ससर्ग मे ही उस पुस्तक ने मेरे हृदय मे जो आर्द्रता उत्पन्न कर दी थी, वह कभी सूखी नही और उसकी गीली तस्वीर मेरे मनोदेश मे कही-न-कही बराबर तैरती रही। "मधुर लहरी" मुझे एक नवीन क्षितिज से उतरती-सी दिखायी पड़ी, अत, मैं उस

दिशा की ओर गहरे मोह से देखने लगा जिसका इंगित उसकी कविताओं ने किया था। उसकी कुछ पंक्तियाँ थी जिन्हें कभी तो शुद्ध रूप मे और कभी स्मृति की लुप्त रेखाओ को जैसे-तैसे जोडकर मैं जब-तब गुनगुनाता रहा। कई पंक्तियाँ थी जिनके साथ मादकता की अनिर्वचनीय घटाएँ स्मृति के कूल से उठ कर मन के आकाश पर छा जाती थी और मैं भीतर ही भीतर किसी अलभ्य लोक की समीपता का बोध करने लगता था।

यौवन की दुर्गम घाटी मे, टीलो मे गीत सुनाती हूँ,
उस पार भटकता है भविष्य, मैं कब से उसे बुलाती हूँ।
अन्तस् में दीप जलाती थी, वह आग लगी अभिलाषा में,
मैं हाय, जलन मे जीती हूँ, हरियाले दिन की आशा मे।
मैं जाती हूँ उन खेतो मे, तुम मेघ घेर लाना प्यारे!
मेरी प्यासी हरियाली मे, रसबूँदें बरसाना प्यारे!

अथवा

मैं किस राजमहल की थी अलबेली रे छलिया!
तज कर परिजन, पुरजन और सहेली रे छलिया!
तेरे पीछे-पीछे चली अकेली रे छलिया!
पहनी तुझ पर आकर कफनी-सेली रे छलिया!

या

कब से ढरकाते जाते हो माया की यह प्याली,
भर न सके तुम, जन्म-जन्म से यह अञ्जलि है खाली!
देख चुकी मैं विश्व तुम्हारा, रे यदुवंशी।
बेचो अपना मोरमुकुट अब, बेचो अपनी वंशी!

मधुरजी की ये पंक्तियाँ मेरे भीतर एक अपरिचित प्रकाश की सनसनाहट-सी पैदा कर देती थी और जब-जब मैं गुनगुनाता कि "मैं जाती हूँ उन खेतो मे तुम मेघ घेर लाना प्यारे" अथवा "पहनी तुझ पर आकर कफनी-सेली रे छलिया" या "बेचो अपना मोरमुकुट अब, बेचो अपनी वंशी", तब-तब मैं एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर जाता था।

मगर, आज वह बात नही है। कोई जादू था जो मन से निकल चुका है, कोई आर्द्रता थी, जो शायद सूख चली है। 'छलिया' के लिए 'कफनी और सेली' पहनने की कल्पना मे अब वह उन्माद नही रहा जो पहले था और खेतो में खडा होकर भीगने के लिए मेघो को निमन्त्रण देने की अब जैसे फुर्सत ही नही रही हो। और 'फूलो की हँसी' बेचने के लिए भी घर से बाहर जाने की हिम्मत नही रही, क्योकि मेरा पडोसी सौदागर और एकाउण्टेण्ट, दोनो है। इसके सिवा, वह चुन-चुनकर उन्ही मालो की तिजारत करता है जिनमे ज्यादे-

से-ज्यादा मुनाफाखोरी और चोरबाजारी की गुंजाइश हो। सारी चीजें पीछे छूट गई हैं। वे जब याद आती है, तब ऐसा मालूम होता है, मानो, दूर पर कही कोई वशी बजा रहा हो!

मगर, परिवर्त्तन कहाँ है? मन के भीतर या मन से बाहर? वर्ड्स्वर्थ ने कहा था कि फूलो के बीच आँखें बन्द करके चलने मे जो सुख है वह, आँखें खोल कर चलने मे नही। शायद, उसी ने कहा था कि मन जब झपकी लेने लगे तब फूलो के खिलने या नही खिलने से क्या? इकबाल की भी इसीसे मिलती-जुलती एक पक्ति है, "क्या लुत्फ अजुमन मे जब दिल ही बुझ गया हो?"

कल्पना के भीतर विचारो की रीढ पैदा हो जाने पर मन फिर इस अवस्था मे नही रहता कि सौन्दर्य की उन रगीन लहरियो से बेसुध होकर खेल सके जो सिर्फ दीखती ही हैं, छूने से पकड मे नही आती, बल्कि, स्पर्श के लगते ही विला जाती हैं। विचारो के ढांचे मे कही कोई तत्त्व है जो फेन और बुद्बुद का विरोधी है; जो इन्द्रधनुष को "धरती की वेणी" पर बाँधना चाहता है, जो चाँदनी को समेटकर एक छोटी-सी शीशी मे बन्द कर देना चाहता है और जिसे यह चिन्ता सताती है कि अन्धकार और प्रकाश इस प्रकार निरवयव होकर क्यो फैले? वे श्वेत और श्याम, दो पर्वतो के समान, पुजीभूत होकर क्यो नही खडे हो गये? अस्तु।

ऐसा याद आता है कि सन् २८ के बाद 'मधुर' जी की कविताएँ मुझे फिर कही भी देखने को नही मिली। मैंने समझा, शायद, उन्होने लिखना छोड दिया। और तब त्रिपुरी काग्रेस के समय गांधीजी ने राजकोट जाकर अनशन शुरू किया और 'मधुरजी' की "राजाओ से" नामक एक छोटी-सी कविता "कर्मवीर" मे छपी, जो इस प्रकार थी—

ऊपर अम्बर रोता है, नीचे धरती अकुलानी,
यह मुकुट बेच दो राजा! यह महल बेच दो रानी!
विस्तृत साम्राज्य तुम्हारा, पर भूखो की बस्ती है,
परवानो की हस्ती क्या, मर मिटने की मस्ती है।
इन कोटि-कोटि प्राणों मे, है एक आग तूफानी।
यह आग बुझाओ राजा! यह आग बुझाओ रानी!
इस बेकलियों के रथ पर, चढ़ कर आई है आंधी,
दरबार वीरवाला मे, रो पड़ा हमारा गांधी।
वह रामराज्य तुम भूले, सो गये डाल गलबहियाँ
नाहक यौवन बीता है, झुलनी की छहियां-छहियां।
इन कोटि-कोटि आँखो से जब उमड पडेगा पानी,
मछरी बनकर तैरेगी, यह सेजरिया सैलानी।

जो श्रमकण से सिंचित है, उन मैदानो मे आओ।
जो खिरमन से खाली हैं, उन खलिहानो में आओ।
स्वागत है आज तुम्हारा, उजड़ी इन झोपड़ियो मे,
कल क्या करने आओगे, उन विप्लव की घड़ियो मे ?
यह धरती धँस जायेगी, है दो दिन की मेहमानी,
इतिहासो के पन्नो पर, उडते हैं राजा-रानी।

बाज पक्तियो का लँगडाना और बाज-बाज का राह मे ही बैठ जाना, मेरे मन को भी खटका, किन्तु, कविता की अन्तिम पक्ति से मैं एक बार ही चौक पडा, मानो, मेरी कल्पना को किसी ने चिराग दिखा दिया हो, मानो मेरी अपनी प्राणमणि किसी दूसरे की जिह्वा पर चमक उठी हो। "मधुर-लहरी" की स्मृति एक बार फिर सजल होकर मेरे मनोव्योम पर छा गयी और मै फिर अचरज करने लगा कि यह कौन है जो इतनी लापरवाही से और इतनी अच्छी चीज लिखता है।

तब से लेकर आज तक मैं बराबर इस कोशिश मे रहा कि मधुरजी से किसी भी प्रकार मेरा सपर्क स्थापित हो जाय, किन्तु ; कई कारणो से (जिनमे एक यह भी है कि मधुरजी चिट्ठियो का जवाब कम देते हैं) अभी हाल तक मैं असफल रहा। हाँ, अब उनकी कविताओ का एक सग्रह (हस्तलिखित रूप में ही) मेरे कब्जे मे आ गया है और उन्हे पढ लेने के बाद मेरी बीस वर्षों की तृषा कुछ शान्त हो चली है।

ऊपर जो मैंने "लापरवाह" विशेषण का प्रयोग किया है, वह लापरवाही से नही। पूरा सग्रह देख लेने के बाद मैं और भी मानने लगा हूँ कि मधुरजी काव्य-रचना के विषय मे कुछ लापरवाह-से हैं। स्पष्ट ही, वे रचनाओ को उतना समय नही देते जिसकी वे अधिकारिणी है। अथवा यह भी सभव है कि वे जिस शैली मे लिखते है, यह लापरवाही उसकी विवशता का ही एक रूप हो। मेरे ऐसा लिखने का एक कारण यह भी है कि माखनलालजी के अनुकरणकर्त्ताओ मे से मधुरजी के अतिरिक्त कोई भी कवि विशिष्टता प्राप्त नही कर सका जिससे यह व्यजना आसानी से ली जा सकती है कि उनकी शैली का अनुकरण कोई सुगम कार्य नही है।

कभी-कभी मैं यह भी सोचता हूँ कि यह असावधानता भी मधुरजी की कविताओ का एक भूषण है ; क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि पर उनकी विशिष्ट पक्तियाँ इतनी तेजी से चमकती हैं जितनी तेजी से वे पूर्ण कौशल से विरचित पृष्ठभूमि पर नही चमक सकती थीं। जिसे साहित्य मे क्लाइमेक्स कहते हैं, वह कला का एक ऐसा शिखर है जिसके प्रदर्शन और चमत्कार के लिए उसके आस-पास के कँगूरो को अपेक्षाकृत कुछ छोटा होना चाहिये। इस दृष्टि से मधुरजी पक्तियो के कवि है। उनकी वाटिका मे जो फूल खिलते हैं, उन फूलो के नीचे वृन्तो और पत्रो का आकलन बहुत आकर्षक नही होता है। धूलो मे हरे रग की धार, कुहासे मे

भटकती हुई अद्भुत किरणें और मन्द तारिकाओ के कुज मे जहाँ-तहाँ जगमगाते हुए अनेक शुक्र, (इस प्रभाववादी ढग के लिए माफी चाहता हूँ) इन दृष्टान्तो से हम उनके सग्रह का, प्रायः, सही मूल्यांकन कर सकते हैं। मगर, क्या मजाल कि आपकी आँखें धारा को छोडकर धूल पर या शुक्र को छोडकर अन्य तारिकाओ पर जा अँटकें! आलोचना-सम्बन्धी आपके गुड जब तक सँभलें-सँभले, तबतक आपका हृदय ही आपके हाथ से निकल भागता है, फिर दोषो का विचार कौन करे? और दोपो के विवेचन से आप किसे सतुष्ट करेंगे? हृदय को ही तो? लेकिन, वह तो पहले ही आपके हाथ से निकल जाता है।

मधुरजी के काव्यद्रव्य जीवन के अत्यन्त साधारण स्तर से आते हैं जो आज कई वर्षों से ससारभर के साहित्य मे अप्रतिम प्रमुखता प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु उनका वर्णन अन्य बहुत लोगो के वर्णनो से भिन्न एव नवीन होता है तथा उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मधुरजी का प्रयास बौद्धिक नही, वरन् हार्दिक है।

'डोम' पर उनकी एक कविता है :—

मुकुटो मे मणियाँ रोई हैं, रनिवासो मे रनियाँ,
किन्तु एकरस रही सदा से-धन्य-धन्य डोमनियाँ!
तेरा निन्दक भी आवेगा मुँहपर ओढ़ कफनियाँ,
उस दिन मौन रहेगी उसकी पोथी-माला-मनियाँ।

और "डोमिन" पर उनकी उक्ति है —

आँग लगाती तू दीपक में, दीपक बल जाता है,
शलभ सनेही उसी प्रेम से आकर जल जाता है।

मधुरजी की प्रेरणा के अधिक भाग समय के अन्तराल से आते रहे है और इस प्रेरणा को उन्होने बडे ही ओज के साथ लिखा है। गांधीजी ने हरिजनोद्धार के लिए जो महान् प्रयास किया, उसका प्रतिविम्ब मधुरजी की कविताओ मे बड़ी ही स्पष्टता के साथ पडा है।

ले लेंगे वे प्राण, हाय, वह देने पर राजी है,
बक्सर से पत्थर-प्रहार, पूने से बमबाजी है।
डोमराज, भयभीत न होना, निष्ठुरता हारेगी,
प्रभु की करुणा हृदय चीरकर यह बाजी मारेगी।
अन्तर माँग रहा है, कैसे दीपक राग जगाऊँ?
बापू! अपनी चिनगारी दे, मैं भी आग लगाऊँ।

"छुआछूत पर छू मन्तर" नामक अपनी एक छोटी-सी कविता मे वे कहते है :—

हैं तीस कोटि उसके हरिजन,
मत बोलो, कर देगा अनशन,
मच जायेगा घर-घर क्रन्दन,
हम मर जायेंगे हाय-हाय, वह हो जायेगा अजर-अमर।

लेकिन, कौन जानता था कि अन्तिम पक्ति के भीतर भविष्यत् ही बोल रहा है?

मधुरजी की कविताओ मे जो सरलता मिलती है, वह बहुत कुछ वैसी ही है, जैसी कि ग्राम-गीतो मे हुआ करती है। कही-कही तो वस्तुस्थिति के ही स्पष्ट वर्णन मात्र से वे चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं।

"हलवाहा" कविता की एक कडी है,

इन खेतों मे हल चलता है, घर मे चक्की चलती हैं,
हलवाहिन अरमान पीसती और कलेजा मलती है।
गाती है जतसार, पीठ पर व्याकुल बच्चे रोते हैं,
पता नहीं, करुणानिधान भगवान कहाँ पर सोते हैं?

"दिल्ली कितनी दूर ?" नाम्नी एक छोटी कविता के तो तीनो ही पद अपनी जगह पर इतिहास की महत्ता लिये खडे है। पहले पद की अन्तिम दो पक्तियो मे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का एक म्रियमाण सिपाही, मानो, आज भी अर्ध-चैतन्य अवस्था मे पडा सिसकियाँ ले रहा है :—

वह अन्तिम बलिदान हमारा, इम्फल का मैदान हिला था,
उत्तर का हिमवान हिला था, सारा हिन्दुस्तान हिला था।

रजकण मे कितने सोये हैं सैनिक चकनाचूर!
सपने में सिसकी लेते हैं, दिल्ली कितनी दूर!

दूसरे पद की महत्ता कुछ और भी विचित्र है। एक महान् जाति के स्वातन्त्र्य-संग्राम के सेनापति के रूप मे बापू का चित्र अनेको बार अकित किया गया, किन्तु, कभी भी किसी कवि को यह साहस नही हुआ कि वह बापू से हथियार की माँग करे। अपनी स्थिति तो यह है कि मैंने "लज्जित मेरे अगार" कह कर अपनी "वायलेन्स की वीणा" को बापू की आँखो से छिपाकर अलग ही रख दिया! किन्तु, मधुर जी ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसमे बापू से शस्त्र माँगना एक स्वाभाविक बात मालूम होती है और उसके लिए क्षमायाचना की भी आवश्यकता प्रतीत नही होती।

झूम सनन चल री पुरवाई, सेनापति का नाम न पूछो,
कोहनूर की क्या कीमत है, आजादी का दाम न पूछो।

आज कंठ से कंठ मिलाओ, अमर शहीदो की जय बोलो,
लाट, किला, मीनारो वाली दिल्ली का दरवाजा खोलो।

भीम मांगता गदा, द्रौपदी मांग रही है चीर,
बापू, आज लुटा दो झोली, दो अर्जुन को तीर।

कौन कह सकता है कि जिस झोली मे निर्भीकता के अगार और वलिदान की लपटें सँजोयी हुई थी, उसमे अर्जुन के तीर ही नही मिलते ?

तीसरे पद मे जो कुछ विलक्षण है, उसकी व्याख्या के लिए किसी भी हिन्दुस्तानी को अन्यत्र नही जाकर अपने हृदय के ही भीतर झाँकना चाहिये। अफसोस कि इसकी अन्तिम पक्ति भी सत्य है।

नील गगन कितना ऊँचा है, पुष्पक से फिर हम साधेंगे,
सागर मे जलयान हमारे सप्तसिंधु को फिर बांधेगे।
आज देश स्वाधीन हो गया, हम किसान-मजदूर
दिल्ली में ही पूछ रहे हैं "दिल्ली कितनी दूर ?"

मधुर जी ने केवल राष्ट्रीय कविताएँ ही नही, स्नेह, करुणा, शादी-विवाह और वात्सल्य से प्रेरित होकर भी अनेक छोटी-मोटी रचनाएँ की है और प्रत्येक रचना मे उस विलक्षणता का स्पर्श मिलता है जिसे उन्होनें अपनी शैली के वरदान-स्वरूप वडी ही साधना के वाद प्राप्त किया है। उनके क्रान्ति-गीत ही नही, वल्कि, लोरी और वारहमासे भी छायावाद-कालीन प्रभाओ से युक्त है। ये वे प्रयोग हैं जिनसे प्रेरणा लेकर हमारे कितने ही नवोदित कलाकार साहित्य मे नवीन रेखाओ का निर्माण करने मे समर्थ हो सकते है। किन्तु, अचरज की बात है कि आज जब सभी प्रकार के लोगो को आसानी से प्रकाशन मिल जाता है, तब मधुरजी के समान विलक्षण कवि को ही हिन्दीवाले नही जानते।

जॉर्ज रसल का साहित्य-चिन्तन

जॉर्ज रसल के बारे मे कहा जाता है कि वे रहस्यवादी थे। रहस्यवाद हम भारतवासियो की दृष्टि मे अदृश्य और अगोचर की एक प्रकार की अपूर्ण अनुभूति है, अतएव, उसे हम योगियो और सन्तो के जीवन से सम्बद्ध मानते आये है। यहाँ तक कि सामान्य गृहस्थ कवि की वाणी मे भी जब कभी हमे अदृश्य और अगोचर का धूमिल संकेत मिलता है, तब हमारा विचार होता है कि यह कवि क्षणमात्र के लिए रहस्यवाद के स्तर पर पहुँच गया है।

अब तो साहित्य मे ऐसे बहुत-से लोग हैं जो मानते हैं कि अदृश्य और अगोचर की ओर संकेत करनेवाली धुँधली वाणी को रहस्यवाद कहकर उसे व्याख्यातीत नही छोडना चाहिये। किन्तु, उस वाणी की व्याख्या हम किस भाषा मे करेंगे जो गोचर और दृश्य की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर बोली जाती है? और अगर हम इन कवियो को यह कहकर चुप कर देना चाहे कि तुम जहाँ पहुँचने का दावा करते हो उस भूमि का अस्तित्व ही नहीं है अथवा तुम जिस अवस्था मे पहुँचकर बोलते हो, वह एक प्रकार के मन्दोन्माद की अवस्था है तो स्पष्ट ही, इसका परिणाम यह होगा कि मानवीय ज्ञान और अनुभूति के उस पक्ष को भी विज्ञान के अधीन हो जाना पडेगा, जिस पक्ष का विश्लेषण और कथन आज तक तार्किक और वैज्ञानिक नही, वल्कि, कवि और कलाकार करते आये हैं। कवि और कलाकार यानी आदमी के दिल की बोली मे वोलनेवाले लोगो का प्राधान्य कुछ इसलिए तो नही है कि जो बात वैज्ञानिक और तार्किक बोलते हैं, वही बात कवि और कलाकार भी अपने ढग पर कहते है। एक तरह से यह भी ठीक है। किन्तु, इस भिन्नता को अधिक स्पष्टता से उपस्थित करने का उपयुक्त ढग, शायद, यह है कि प्रत्येक घटना के दो पक्ष होते हैं जिनमे से एक का वर्णन वैज्ञानिक, तार्किक और इतिहासकार करता है और दूसरे का कवि और कलाकार। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जीवन या घटना के अपर पक्ष का जो वर्णन कवि के हिस्से मे आता है, वह इसलिए नही कि विज्ञान उसे अप्रमुख मानकर कवियो के लिए छोड देता है, बल्कि, इसलिए कि विज्ञान इस पक्ष को समझ नही सकता, यद्यपि मनुष्य के सारे सूक्ष्म सस्कार घटना के इसी अपर पक्ष मे पोषित, पालित और रक्षित होते हैं। स्वयं रसल ने ही एक स्थान पर कहा है कि "घटनाएँ पहले मनुष्य की आत्मा मे घटित होती हैं और तब उसके शरीर मे। इसलिए, सच्चा इतिहासकार तो वही माना जायगा जो घटनाओ की सूची तैयार करने के वदले उसके मूल कारणो का विश्लेषण करता हो।"

और मूल कारणो की खोज, सच पूछिये तो जीवन के उद्गम की खोज है। यही वह जिज्ञासा है जहाँ से विद्या और कला, दोनो का जन्म हुआ था अथवा जिसके समाधान की ओर दोनो ही प्रगतिशील हैं। अन्तर केवल यह है कि एक जहाँ बुद्धिगम्य तत्त्वो तक पहुँचकर अपनी शक्ति की इयत्ता स्वीकार कर लेती है, वहाँ दूसरी बुद्धि की अन्तिम सीमा को भी अपूर्णता की ही भूमि समझकर पूर्णता की खोज मे और भी आगे वढकर अविश्लिष्ट, अगोचर और अदृश्य की ओर सकेत करती है। अदृश्य और अगोचर की सत्ता है या नही, यहाँ इस प्रश्न का उत्तर खोजने से कुछ आने-जानेवाला नही है। जो सुधी है, जो सचमुच ही सत्य के प्रेमी है, वे ऐसे प्रश्नो का समाधान देना नही चाहते और जो समाधान देने के लिए वीरता के साथ आगे आते है, वे अपनी विवेकशीलता और श्रद्धा का प्रयोग एक ऐसे स्थल पर करते हैं जहाँ उसके प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नही है। हाँ, यह सोचने की वात अवश्य है कि जहाँ पहुँचकर मनुष्य की बुद्धि इति कहकर निश्चेष्ट होकर वैठ जाती है, वहाँ मनुष्य की कल्पनाशक्ति पर कैसी प्रतिक्रिया होती है। क्या वह भी बुद्धि के साथ आराम से लेट जाना चाहती है अथवा दुर्गम और दुर्भेद्य के वीच अपनी राह निकालने के लिए शायक-सधान करने का साहस उसमे अभी शेष है?

जार्ज रसल की कल्पना, बुद्धि के साथ लेटकर आराम से पगुरानेवाली कल्पना नही है, वल्कि जहाँ बुद्धि थकने लगती है, वहाँ भी उनकी कल्पना साहस के साथ आगे देखने का प्रयत्न करती है। और उनका रहस्यवाद भी उस हीन कोटि का रहस्यवाद नही है जिसे हमलोग तोता-मैना काव्य मे से अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा की सीढी लगाकर वडी ही आसानी से निकाल लेते हैं। यह ठीक है कि राग की भाषा होने के कारण काव्य मे कल्पना का प्राधान्य होता है, किन्तु जो कल्पना ईर्ष्यावश बुद्धि की उपेक्षा या त्याग केवल इसलिए करती है कि वह उसकी तेजस्विता की वरावरी नही कर सकती, उस कल्पना के सहारे सच्ची रहस्यात्मकता की सृष्टि नही हो सकती। प्रत्येक प्रकार की धुँधली वाणी को हम रहस्यवाद मान ले, यह रहस्यवाद-जैसे महँगे शब्द का मान घटाना तथा असमर्थ उद्गारो को अनुचित महत्त्व देना है। वाणी धुँधली इसलिए भी हो सकती है कि जो तत्त्व बुद्धिगम्य है, उसका सुस्पष्ट चित्रण कवि अपनी अक्षमता के कारण नही कर सका हो, उसके भीतर साधारणीकरण की शक्ति सीमित हो अथवा उसकी भाषा मे वल नही हो। बुद्धि हमारी जिज्ञासाओ का जहाँ तक समाधान कर सकती है, वहाँ तक वह रहस्यवादी को भी ग्राह्य होनी चाहिये। किन्तु, उसके आगे के ससार मे रहस्यवादी अपनी कल्पना-शक्ति के वल पर प्रवेश करता है। अतएव, सच्ची रहस्यात्मकता के पीछे बुद्धि का भी प्रवल आधार होता है। हाँ, यह सभव है कि प्रत्येक रहस्यवादी की बुद्धि अध्ययन और मनन-जनित अथवा

शास्त्रीय नही होती ; क्योकि मनुष्य के भीतर सहज प्रवृत्ति (Intuition) नाम की भी एक शक्ति है जो वही काम करती है जिसका सम्बन्ध ज्ञान अथवा बुद्धि से है। कबीर, दादू और नानक के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि ये महात्मा बडे विद्वान नही थे और जब-तब मस्ती मे आकर उन्होने पाडित्य का कुछ निरादर भी किया है। फिर भी अपनी साधना के बल पर वे जिन निर्णयो पर पहुँचे थे, वे ज्ञानियो और पडितो के निर्णय से बहुत भिन्न नही है। अगर वेदो और उपनिषदो को हम भारतीय ज्ञान का आदिकोष मानते हो तो हमे यह भी मानना पडेगा कि वेद का ज्ञान इन महात्माओ के हृदय मे सहज रूप से प्रकट हो गया था। न्याय और मीमासा की सीढियाँ इन साधको ने नही पकडी, किन्तु, तब भी वे ज्ञान के उस स्तर पर पहुँच गये जहाँ पहुँचते-पहुँचते पंडितो की भी आयु थक जाती है। यह चमत्कार सहज प्रवृत्ति का है। यह चमत्कार उस शक्ति का है जिसे हम, अन्य कोई नाम नही पाकर, हृदय की शक्ति कहते हैं। अक्ल जिसे समझ नही सकती, दिल उसे आँखो से देखता है। हठयोगी जिसे विविध क्रियाओ के द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकता, वही समाधि किसी-किसी को आप-से-आप लग जाती है।

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन ते लागी
युग - युग अधिक चली।

गाँधीजी की अन्तर्ध्वनि के किस्से पर विवेकशील लोग अब भी एक प्रकार की हँसी हँसते है जिसका अर्थ होता है कि गाँधी भी अजब भटका हुआ जीव था। किन्तु, यह इस प्रकार हँसी मे टालने की बात नही है। सहज प्रवृत्ति भी ज्ञान का एक माध्यम है, और गाँधीजी इसी शक्ति के बल पर अपने निर्णय पर पहले पहुँचते थे और उनकी दलीलें पीछे उपस्थित किया करते थे।

जहाँ तक बुद्धि की गति है, वहाँ तक कल्पना को भी सुस्पष्ट होना ही चाहिये, क्योकि अगर अपने देखे हुए दृश्य को वह सुस्पष्टता से उपस्थित नही कर सकी तो उसे बुद्धि के ताने सहने पडेगे। क्योकि जो वस्तु बुद्धि के द्वारा सुस्पष्टता से देखी जा सकती है, उसके चित्रण को अगर कल्पना ने धूमिल छोड दिया तो यह उसकी असमर्थता होगी। कल्पना मे बुद्धि से कुछ अधिक शक्ति होती है। कवि से हम केवल यही आशा नही करते कि वह हमे वैसा ही चित्र दिखलाये जैसा चित्र हम इतिहासकार और वैज्ञानिक के यहाँ देखते है। विज्ञान सुन्दर होने के पहले सुस्पष्ट होता है, बल्कि सौन्दर्य तो उसका आनुषगिक गुण है, उसका वास्तविक गुण तो सुस्पष्टता ही होना चाहिये। किन्तु कवि से हमारी यह आशा होती है कि वह जो कुछ भी हमारे सामने लाये वह केवल सुस्पष्ट ही नही, वरन् सुन्दर और उद्दीप्त भी हो। इसलिए, जहाँ तक बुद्धि और कल्पना की समानान्तर दौड का क्षेत्र है, वहाँ तक रहस्यवाद जैसी किसी वस्तु की सत्ता नही मानी जा

सकती। असल मे, रहस्यवाद वही आ सकता है, जहाँ बुद्धि श्रान्त हो कर बैठ जाय और कल्पना आगे बढकर अदृश्य का सकेत देती हो। रहस्यवाद पूर्णता की अपूर्ण अनुभूति है। रहस्यवाद उस अगोचर को छूने का प्रयास है जिसे तर्क नही छू सकता, जो बुद्धि के स्पर्श के परे है। अपनी समाधि मे फैलते-फैलते मनुष्य जब गोचर परिधि के पार जाने लगता है तब उसकी अनुभूति शब्दो मे सुस्पष्ट रूप से नही कही जा सकती। शब्द उस अनुभूति का सिर्फ सकेत भर देते हैं और उन्ही सकेतो के बल पर हमे उसे ग्रहण करना होता है। व्यक्ति मे किसी ऐसी भाव-दशा की सत्ता सभव है या नही, इस प्रश्न पर विज्ञान से प्रमाण मांगना उसे व्यर्थ ही असमजस मे डालना है, क्योकि ससार की विभिन्न भाषाओ मे ऐसे कितने ही कवि और सन्त हुए है, जिनकी आत्मा ने ऐसे प्रसार का अनुभव किया था। रह गयी उपयोग की बात, सो हमारे भीतर ऐसी कितनी ही शक्तियाँ हैं जिनका आधिभौतिक जीवन मे कोई प्रत्यक्ष उपयोग नही है, किन्तु, जिनके विकास से हमारी आन्तरिक सम्पन्नता मे वृद्धि होती है और हमारे चौकोर (Rounded) व्यक्तित्व के निर्माण मे सहायता मिलती है। गोचर के घेरे से उमडकर अगोचर से टकराने-वाला हमारा आत्मिक प्रसार भी, इसी प्रकार, हमारे व्यक्तित्व को और भी अधिक सम्पन्न बनाता है, हमे और भी अधिक पूर्ण करता है।

और सच पूछिये तो रसल की आत्मा का इतिहास पूर्णता के अधिक से अधिक समीप पहुँचने के लिए अटूट साधना मे सलग्न सतत जागरूक आत्मा का ही इतिहास है। किन्तु, उनकी साधना की प्रक्रिया रूढिग्रस्त योगियो की साधना की प्रक्रिया नही थी जो शास्त्र का आधार और आप्त वचनो का प्रमाण पकड़कर चलते है, जो अपने मन के स्वर्ग मे प्रवेश करने के पूर्व बुद्धि के पाँवो मे बेडी तथा इच्छा के अङ्ग-अङ्ग पर जजीर कस देते है; क्योकि उन्हे भय लगा रहता है कि अगर इन्द्रियाँ नियंत्रण से कुछ छूट गयी तो फिर मोक्ष का पद हाथ नही आयेगा। इसके विपरीत, रसल के जीवन मे हम श्रद्धा और बुद्धि को एक ही छत के नीचे निवास करते देखते हैं। उनकी श्रद्धा जितनी प्रबल है, उनकी बुद्धि भी उतनी ही प्रखर है तथा वह प्रत्येक दिशा मे एक नयी जिज्ञासा का भाव जगाये चलती है। यह बुद्धि शास्त्रो से डरे हुए साधक की अन्ध श्रद्धा नही, किन्तु एक जाग्रत आत्मा की अदम्य इच्छा का प्रतिरूप है जो प्रत्येक आवरण को हटाकर उसके परे देखना चाहती है। बाह्य जीवन मे हम जो कुछ देखते हैं, उसका विधिवत् वर्णन कर देना बहुत आसान काम है। मन मे जो तरगें उठती हैं और समाधि मे जो सपने लहराया करते हैं उनका चित्रण भी उतना कठिन नही होता। किन्तु, समाधि के मूल मे बसनेवाली आत्मा को अपना वर्ण्य विषय बनाकर कविता रचने का कार्य अत्यन्त दुरूह होता है। तोभी यही काम है जिसमे रसल जीवनभर लगे रहे और इसी श्रद्धा-समन्वित बौद्धिक प्रयास के भीतर से उनका विकास पूर्णता की ओर हुआ।

जॉर्ज रसल एक साथ कवि, दार्शनिक और चित्रकार थे, किन्तु, अपने पीछे उन्होने जो नाम छोडा है, वह महान् होता हुआ भी, किसी विशेषज्ञ का नाम नही है। यो तो उनके काव्य, चित्र और विचार, सभी का अन्यतम महत्त्व है, परन्तु, कला या दर्शन मे जिसे सम्पूर्ण सिद्धि कहते हैं, वह उन्हे इन तीनो मे से एक मे भी नही मिली। उनके शब्दो के जो सतही अर्थ हैं उनमे अधिक विलक्षणता नही मिलती, विलक्षणता तो उन शब्दो के भीतर छिपी हुई व्याप्तियो मे निहित है। किन्तु, आज के युग मे इन व्याप्तियो तक पहुँचने की शक्ति या धीरता अधिक लोगों में नही पायी जाती। ज्यादा लोग तो ऐसे ही हैं जो उस भाव-जगत् को ही गलत समझते हैं जिसमे प्रविष्ट होकर रसल ने काम किया है। इस स्थिति का एक कारण, शायद, यह भी है कि अपनी सभी क्षमताओ को लेकर रसल अपने आपका ही अनुसन्धान कर रहे थे—दर्शन, कविता और चित्र ये उनके लिए सुयश और अमरता के साधन नही, प्रत्युत, आत्मविकास के ही सोपान थे।

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि रसल का रहस्यवाद अपनी तमाम परम्पराओ को लिये हुए होने पर भी बिलकुल नवीन था। उनमे पहले के रहस्यवादियो की अन्धभक्ति नही मिलती। कभी-कभी वे उन शकाओ से भी ग्रस्त दीखते हैं जो शकाएँ बहुत-से सामान्य जिज्ञासुओ को सताया करती है। शायद, यह कहना उतना ठीक नही होगा कि अदृश्य की सत्ता मे अटूट विश्वास रखने के कारण वे रहस्यवादी हो गये थे, जितना यह समझना कि मनुष्य के भीतर जो एक अविश्लिष्ट देश है उसमे उन्होने कौतूहल और आकुल जिज्ञासा से प्रेरित होकर डुबकी लगायी और ज्यो-ज्यो इस अनुसन्धान मे उन्हे रस मिलता गया, त्यो-त्यो वे और गहराई मे नीचे उतरते गये। और जीवन के अन्त तक उन्होने इस अनुसन्धान मे कुछ पाया भी था नही, यह बात भी दृढता के साथ नही कही जा सकती, क्योकि बुढापे मे आकर एकाध बार, उन्होने इस बात के लिए भी विलाप किया कि उनकी सारी जिन्दगी उन भावो की उपासना मे व्यर्थ ही बीत गयी जिनके मूल का पता ही नही चलता। रहस्यवादी बनने या कहलाने की भी उन्हे कोई इच्छा नही थी। जिस कृत्रिम रहस्यवाद की झाँकी दूसरो की अनुभूति या दूसरो के द्वारा निर्मित प्रतीक का नाम लेकर दिखलायी जाती है उससे तो उन्हे और भी चिढ थी। उन्होने एक स्थल पर लिखा है कि "आज के रहस्यवादियो की आत्मा अनगढ सिद्धान्तो का आगार बन गयी है। वे संस्कृत-साहित्य से कुछ नाम उठा लाते हैं और उनके आधार पर ऐसे-ऐसे प्रतीको की रचना कर डालते हैं जिनमे रचयिता के हृदय की धडकन बिलकुल सुनायी नही देती।"

सच पूछिये तो रसल का रहस्यवाद एक बौद्धिक चिन्तक का रहस्यवाद है। प्रस्तुत और दृश्य के पीछे प्रच्छन्न तथा अदृश्य लोक की, जो झाकी पहले के चिन्तक अपनी समाधि मे देखते आये थे, उसीके भीतर प्रवेश करने की जिज्ञासा ने रसल

को रहस्यवादी बनाया। और, यह कार्य उन्हे इतना प्रिय प्रतीत हुआ कि जीवन की बाह्य सम्पन्नता की ओर उन्होने कभी ध्यान ही नही दिया। आरम्भ मे वे किसी बैंक मे क्लर्क थे; पीछे चलकर उन्होने अपना सारा समय आयरलैण्ड मे सहकारिता के प्रचार मे लगा दिया। सस्कृत एव अन्य प्राच्य दर्शनो का उन्होने विधिवत् अध्ययन किया था और सच्चे भारतीय ऋषियो का अनुकरण करते हुए उन्होने अपनी सारी शक्ति अपने-आपको भीतर से सम्पन्न बनाने मे लगा दी थी। जन-जीवन का साथ उन्होने कभी नही छोडा, बल्कि अपने जीवन के अन्तिम पच्चीस वर्ष तो उन्होने अपने देशवासियो के गहरे सम्पर्क मे बिताये। किन्तु, मन उनका उसी लोक मे घूमता रहा जो चर्मचक्षुओ से देखा नही जा सकता, जिसके रूप को विज्ञान की काठ की उँगलियाँ नही छू सकती। भीतर की दुनिया मे उन्हे जो बौद्धिक आनन्द मिलने लगा था उसके सामने बाहर के सुख, सुविधा और सुयश सभी फीके थे। सुयश की उन्हे इच्छा नही थी और न इहलौकिक सुखो पर उनका कोई विशेष ध्यान था। यहाँ तक कि जीवन-भर उन्होने जो प्रभूत चिन्तन किया था, उसका भी एक अप्रमुख अश ही उन्होने ससार के लिये छोडा है। उनके जीवन-काल मे कहा जाता था कि रसल दूसरो के विचारो की धाय (Midwife) है अर्थात् रसल से बातें करते समय प्रत्येक मनुष्य के भीतर विचारो का ज्वार-सा उठ खडा होता है। किन्तु, ऐसा दुर्लभ कार्य भी उन्होने बहुत नही किया। वेद, उपनिषद् और प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनो के बीच निरन्तर निमग्न एव जीवन की मौलिक समस्याओ पर कठोर चिन्तन करते हुए वे बराबर अपने भीतर की दुनिया मे डूबते गये और इस बात पर कभी सचेष्ट होकर विचार ही नही किया कि इसका निचोड एक अच्छी मात्रा मे, मनुष्यता के लिए भी छोड जाना चाहिये। तब भी जो-कुछ साहित्य वे छोड गये है, वह उनके चिन्तनशील व्यक्तित्व से स्वेद के समान नि:सृत हुआ-सा लगता है।

विशेषत:, कविता को वे कवि के व्यक्तित्व की स्वाभाविक द्रुति मानते थे। काव्य-रचना के प्रसग मे लिखते हुए उन्होने कहा है कि "जिस ग्रन्थ मे मुझे सर्वाधिक ज्ञान मिला है (अर्थात् गीता) उसकी शिक्षा है कि कर्म की प्रेरणा तुम्हारे कर्म मे ही निहित होनी चाहिये। अर्थात् कविता रचने और चित्र अकित करने की मूल प्रेरणा यही होनी चाहिये कि रचना के समय हमे आनन्द की प्राप्ति होती है। हमे कविताएँ तो उसी स्वाभाविकता से लिखनी चाहिये जिस स्वाभाविकता से वृन्तो पर फूल खिला करते हैं। किसी सुन्दर वस्तु का निर्माण कर लेने के बाद हमारे भीतर यह लालसा क्यो जगे कि उसे दुनिया याद भी रखेगी या नही?"

वस्तुत:, वे कला की कृतियो को प्रचार की वस्तु नही मानते थे। उल्टे, उनका विचार था कि जब ससार की दृष्टि कलाकार की कृतियो पर पडने लगती है, तब उस कलाकार का भोलापन कुछ कम होने लगता है। रसल ने लिखा

है कि आरम्भ मे जब वे कविताएँ रचते थे तब उन्हे अपने भीतर एक प्रकार की निर्दोषिता का आभास मिलता था, किन्तु, जभी उनका पहला सग्रह प्रकाशित हुआ और उसकी चर्चा लोगो मे सुनायी पडने लगी, उनकी इस निर्दोषिता मे एक कमी आ गयी जिसकी पूर्ति वे सारे जीवन मे नही कर सके।

कविता के सम्बन्ध मे जिस कवि के इतने पवित्र और कोमल भाव हो, वह कला को किस रूप से ग्रहण करता होगा, इसका आसानी से अनुमान किया जा सकता है। फिर भी जीवन के प्रति उनमे वह उपेक्षा नही थी जो "कला के लिए कला" नामक सिद्धान्त मे विश्वास करनेवाले अनेक विद्वानो मे पायी जाती है। दर-असल, सभी कलाओ और विद्याओ के माध्यम से वे अपने-आपकी खोज कर रहे थे (जो, एक प्रकार से, मनुष्यमात्र की खोज है)। वे अपनी आभ्यन्तर सम्पन्नता की वृद्धि करना चाहते थे। अतएव, दायित्वहीन सिद्धान्तो की ओर उनका झुकाव नही हो सकता था। फिर भी कविता और चित्र के साथ उन्होने पवित्रता, सुकुमारता और स्वाभाविकता के जिन भावो को सम्बद्ध कर रखा था, उसमे सहायक होने के कारण "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त के प्रति वे यत्किञ्चित् सहानुभूतिशील थे। "रचना की प्रक्रिया मे एक आनन्द है जिसे वे लोग नही पा सकते जो केवल बनी-बनायी वस्तुओ का उपभोग करते हैं। इसका कारण यह है कि कलाकार जब अपनी कृतियो में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है तब वह जीवन के ही किसी नैसर्गिक नियम का पालन करता होता है। अगर मैं ऐसी जगह पर भी कैद कर दिया जाऊँ जहाँ मेरे सिवा और कोई भी नही हो, तब भी मैं चित्र बनाना तो नही ही छोड़ूँगा। चित्र बनाने मे जो एक आनन्द है, वह यह सोचकर न्यून क्यो होगा कि उसे देखनेवाला कोई नही है?" इस सदर्भ के बाद रसल ने यह सकेत किया है कि हो-न-हो "कला के लिए कला" वाले सूत्र मे भी कुछ-न-कुछ सत्य निहित होगा।

सिद्धान्तो का उदय शून्य या नकारात्मकता से नही होता। आगे चलकर खण्डित हो जानेवाले सिद्धान्त भी अपने भीतर का कोई-न-कोई अश नवागन्तुक सिद्धान्त के हाथ मे धर जाते हैं; क्योकि यह अश सत्य होता है और इसके बिना उस सिद्धान्त का भी काम नही चल सकता जो पहले के किसी अधूरे सिद्धान्त पर विजयी होता है। "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त का भी यही हाल है। रचना की प्रक्रिया मे एक आनन्द है, इसे तो वे भी स्वीकार करते हैं जिनका विचार है कि रचना समाज के लिए की जानी चाहिये। सम्भव है, कला के भीतर सामाजिकता की, दृढता से, स्थापना हो जाने के बाद हम फिर इस सिद्धान्त की ओर मुड़ें कि कला मे कभी-कभी "कला" की भी प्रधानता होनी चाहिये।

टालस्टाय "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त के प्रबल विरोधी हुए है और सयोग से एक स्थल पर रसल ने टालस्टाय के सिद्धान्त पर अपना विचार प्रकट

किया है जिससे इस बात पर कुछ और प्रकाश पडता है कि कला के सम्बन्ध मे रसल के अपने विचार क्या थे। वे लिखते है कि "टालस्टाय हर चीज को एक नैतिक दृष्टिकोण से देखने के आदी है, किन्तु, वे यह भूलते हैं कि जीवन की सम्पूर्णता के दर्शन के लिए उसे अनेक दृष्टियो से देखना पडता है। सुन्दर की सत्ता टालस्टाय केवल इसलिए नही मानना चाहते कि वह सुन्दर है, बल्कि, इस कारण कि सुन्दरता श्रम करती है, सुन्दरता सूत कातती है और जरूरत होने पर अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए वह प्रवचन भी करती है।" 'मेरा खयाल है कि साहित्य और कला की आलोचना करने मे टालस्टाय ने अपने भ्रम, अहंकार और अन्धवृत्ति का परिचय दिया है। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी वे एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् है और उनके उद्गारो मे भी कुछ ऐसे तो हैं ही जिनसे सहमत होने मे मुझे कोई आपत्ति नही हो सकती। उदाहरणार्थ, उनका यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि विश्वजनीन कला का जन्म तब होता है जब कि कलाकार को किसी गम्भीर भाव की अनुभूति होती है और वह उसे सबके लिए सुलभ बनाना चाहता है। इसके विपरीत, ऐसे भी कलाकार हैं जो इसलिए लिखते हैं चूंकि उनकी रचनाओ से कुछ धनियो का मनोरजन होता है।" इन विभाजन के साथ रसल ने अपनी पूरी सहमति प्रकट की है और सभी लेखको, कवियो एव कलाकारो को उन्होने सलाह दी है कि वे टालस्टाय के कला-सम्बन्धी विवेचन पर अवश्य ध्यान दें, क्योकि लेखको मे से अधिकाश आज धनियो के पैसो पर जीने लगे है और वे जीवन की वही झाँकी सामने लाने लगे है जो धनियो को पसन्द है।

रसल कथा के क्षेत्र मे उपदेश और प्रवचन के विरोधी थे। वे कला की कृतियो को कलाकार के जीवन का नवनीत तथा उसकी स्वाभाविक सुरभि मानते थे। शुद्ध नवनीत और शुद्ध गन्ध के लिए दूध और फूल का भी शुद्ध होना आवश्यक है। अतएव, उनका विश्वास था कि मन्द और मलिन व्यक्तित्व से सुन्दर कृतियों का जन्म नही हो सकता। टालस्टाय-जैसे महान् लेखक को भी जो उन्होने श्रद्धा से स्वीकार नही किया, उसका कारण यही था कि टालस्टाय के आरम्भिक जीवन का पाशविक आवेग उन्हे बरावर याद रहा और उस आवेग की गन्ध उन्हे टालस्टाय की रचना से अन्त तक विचलित करती रही। टालस्टाय भी आत्माभिव्यक्ति के लिए अपने जीवन की खान मे ही काम करते थे, किन्तु, वे कलाकार होने के साथ-साथ उपदेशक भी थे। अतएव, अपनी अनुभूति की मिट्टी खोदने मे उन्हे वह प्रसन्नता नही मिली जो एक कलाकार को मिलनी चाहिये। एक ओर तो उनका कलाकार मिट्टी को उलट रहा था, दूसरी ओर, उनके भीतर का उपदेष्टा, मानो, यह कहकर घिना रहा था कि यह तो बिलकुल सड़ी-गली चीज है। जॉर्ज रसल टालस्टाय की हठयोग-जैसी वृत्ति के भी विरोधी थे, क्योकि उन्होने लिखा है कि "टालस्टाय की नैतिकता सभी प्रिय लगनेवाली बातो का वध

करनेवाली है। शायद, टालस्टाय इस भाव से पीड़ित हैं कि जो भी इच्छाएँ हमे प्रिय दीखती हैं वे अवश्य ही, पापमयी होगी, अतएव चुन-चुन करके हमे सभी सुहावनी इच्छाओ का वध कर डालना चाहिये।" ऐसी उक्ति उसी व्यक्ति के मुख से निकल सकती है जो जीवन के विविध रूपो के प्रति बहुत उदार हो। अगर पाप का लक्षण उसका खूबसूरत होना मान लिया जाय, तो सचमुच ही, जीवन मे कही रस नही टिक सकता है।

मनुष्य की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण कला को वे अत्यन्त पवित्र एव स्वाभाविक मानते थे। फिर भी उनका विश्वास था कि कला की श्रेष्ठता की पहचान अभिव्यक्ति की तेजस्विता और सहजता से ही हो सकती है, केवल शैली की विलक्षणताओ से नही। दूसरी ओर, कला मे सोद्देश्यता के आरोप से उन्हे घृणा थी। वस्तुत., कला का उपयोग वे आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य के लिए करना ही नही चाहते थे "मैं तो अपना दीपक अपने आनन्द के लिए जलाता हूँ, अगर उससे दूसरो को भी रौशनी मिल जाती है तो अच्छी बात है।" यह भाव उनके कला-सम्बन्धी सभी मतो का निचोड है। शैली या टेकनिक के सम्बन्ध मे तो उन्होने स्पष्ट लिखा है कि "शैली पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना भी एक दोष है जिससे कलाकार को बचना चाहिये। टेकनिक पर अगर हम बहुत अधिक सोच-विचार करने लगे तो इसका एक बुरा प्रभाव हमारी रचना की सहजता पर भी पड सकता है। वक्ता का समग्र ध्यान तो अपने विषय पर केन्द्रित रहना चाहिये। अगर वह अपने भाषण की शैली और स्वर के चढाव-उतार को देखने लगेगा तो, निश्चय ही, उसके भाषण की प्रभविष्णुता मे कमी हो जायगी। श्रोताओ से तो यह बात छिपी नही रह सकती कि वक्ता का ध्यान एक वस्तु पर है अथवा वह दो वस्तुओ (अर्थात् विषय और शैली) को सँभालने की कोशिश मे है और अगर श्रोताओ को यह पता चल गया कि वक्ता अपनी शैली को सजाने या सँभालने की कोशिश कर रहा है तो भाषण से उसका असर हो जाता रहेगा। अतएव, अच्छा यही है कि हम अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को विषय के साथ तल्लीन कर दे और अभिव्यक्ति की शैली को प्रकृति के ही अधीन चलने दे।"

शैली और भाव के विषय मे रसल ने जो यह सूक्ष्म विवेचन किया है, साहित्य मे उसे बहुत अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये, क्योकि यद्यपि शैली और भाव दोनो मिलकर ही साहित्य की रचना करते हैं, फिर भी साहित्य मे भाव का स्थान पहले और शैली का पीछे आता है। हम भावो की अभिव्यक्ति के लिए शैलियो की तलाश करते हैं, शैलियो के भीतर स्थापित करने के लिए अनुकूल भावो की खोज नही किया करते। कुछ कवि ऐसे भी जरूर होते हैं जो केवल काफिये या अन्त्यानुप्रास के सकेत पर अनुकूल भाव जुटाकर पूरी गजल-की-गजल लिख डालते

हैं, किन्तु, काव्य-रचना की सामान्य पद्धति यह नही है। कविताएँ तो, प्राय:, इसीलिए रची जाती हैं कि कवि के हृदय मे पहले भाव आते है और तब वह उनके अनुकूल छन्दो, रीतियो एवं तुको का चुनाव करता है अथवा आवश्यकता पडने पर छन्दोबन्ध को ही तोड डालता हैं।

कला की जिस प्रगतिशील व्याख्या को आज के कलाकार उत्साह से ग्रहण करते हैं, उनके मत से रसल के मत का स्पष्ट ही वैपरीत्य है, क्योकि रसल इस बात को जरा भी बर्दाश्त नही कर सकते कि कला-जैसी सुकोमल एव स्वाभाविक वस्तु का उपयोग राजनीतिक आन्दोलनो के प्रचार के लिए किया जाय अथवा उसके माध्यम से सामाजिक अत्याचारो पर प्रहार या राष्ट्रीयता की उपासना की जाय। "जब जनता विद्रोह करती है तब वह पूर्ण रूप से जाग्रत अवस्था मे आ जाती है। उस समय उसकी वह स्वप्निल चेतना विनष्ट हो जाती है, जो वस्तुत: कविता के जन्म की भूमि है। इसलिए, राजनीतिक एव क्रान्तिकारी आन्दोलनो से सच्ची कविता का जन्म, शायद ही, हो सकता है। क्रान्तियो से कविता मे जो विलक्षणता आती है, वह उसकी शक्ति है, आत्मा नही।" क्रान्ति की कविताओ को रसल Rhetoric या रीति कहते है। "रीति से आत्मा जड हो जाती है। अगर मैं क्रान्तिकारी कविताएँ पढने लगूँ तो मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा मे जिस क्रान्ति-भावना का प्राचुर्य है वह समाप्त हो जायगी। इन कविताओ के रचयिता अखबारो के अग्रलेख पढ-पढकर गुस्से मे आते रहते हैं, मगर, क्रोध के आवेश मे आना तो आत्मा को जगाने का सही मार्ग नही कहा जा सकता।"

आयर्लैण्ड मे स्वाधीनता-सग्राम के प्रसग मे जो अनेक ओजस्विनी कविताएँ लिखी गयी, रसल उन कविताओ के भी कठोर आलोचक थे। उनका विचार था कि सच्ची कविता मे विश्वभर की भावनाओ और विचारो का सकेत रहता है। सच्ची कविता मे एक प्रकार की अनन्तता का वातावरण रहता है और उसे पढते समय ऐसा मालूम होता है, मानो, यह विश्व के किसी भी कोने मे, इतिहास के किसी भी युग मे, लिखी जा सकती थी। किन्तु, चूँकि राष्ट्रीय कविताओ मे विश्वजनीन भावनाओ का अभाव होता है, इसलिए, वे ऐसी कविताओ को कविता मानने को तैयार नही थे।

रसल की यह उक्ति अप्रिय होते हुए भी सत्य से बहुत दूर नही कही जा सकती। विशेषत., हम यह सोचते है कि रसल राष्ट्रीयता को मनुष्य की कमजोरी समझते थे और मनुष्य को उस रूप की याद दिलाना चाहते थे जो उसका सार्वभौम रूप है, तब हम उनके इस मत को भी सहानुभूति से ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। राष्ट्रीय जागरण को वे मनुष्य के भीतर बसनेवाले पशु का जागरण कहते थे और रवीन्द्रनाथ को उन्होने जो हार्दिक श्रद्धा अर्पित की, उसका भी मूल कारण यही था कि रवीन्द्रनाथ स्वदेश से प्रेम करनेवाले मनुष्य की खातिर

समग्र ससार से प्रेम करनेवाले मनुष्य का बलिदान करवाना नही चाहते थे। वह देशभक्ति तो सचमुच ही निन्द्य है जो अपनी पुष्टि और विकास के लिए उन तत्त्वो का बलिदान मांगती है जो तत्त्व स्वय देशभक्ति से भी ऊँचे और महान् हैं। किन्तु, देशभक्ति का सर्वत्र वही रूप तो नही हो सकता जो पश्चिम के देशो मे देखने को मिलता है। एक प्रकार की देशभक्ति की स्थापना गाँधी, जवाहरलाल और रवीन्द्रनाथ ने भी की है जो विश्वभक्ति तक जाने मे सोपान का काम दे सकती है। अत, रवीन्द्रनाथ के लिए रसल की श्रद्धाजलि रवीन्द्र और गाँधी की देशभक्ति-भावना के लिए भी निवेदित समझी जानी चाहिये।

कविता के द्वारा मनुष्य मे जागरण भी लाया जा सकता है और उसके द्वारा समाज मे एक प्रकार का कम्पन भी उत्पन्न किया जा सकता है, यह बात रसल की चिन्ता मे भी नही आ सकती थी। किन्तु, तब भी कला और काव्य, दोनो को ही वे साध्य नही, साधन मानते थे, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन, उसकी आन्तरिक सम्पन्नता की वृद्धि का साधन तथा उसके सुकोमल व्यक्तित्व से सौरभ की तरह प्रस्फुटित होनेवाली अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का साधन। वे कला को अत्यन्त सहज, सुकोमल और सूक्ष्म मानते हुए भी उसे केवल सौन्दर्य-सृष्टि का माध्यम नही मानते थे। "मैं इस बात का विरोध करता हूँ कि केवल सुन्दरता ही कविता का लक्ष्य और उसका एकमात्र नियम है। सत्य और शिव भी कविता के वैसे ही आवश्यक उपकरण है और कवि के मार्ग-प्रदर्शन मे उनका भी प्रबल भाग होना चाहिये।"

माक गिबन ने लिखा है कि कविता को रसल विशुद्ध कला का पर्याय नही मानते थे। कविता का उपयोग वे इसलिए करते थे चूँकि इसके द्वारा सत्य मनुष्य की पकड मे लाया जा सकता है।

कला निरुद्देश्य नही है। किन्तु, रसल के मतानुसार कोई भी स्थूल वस्तु कला का लक्ष्य नही हो सकती। कला का काम मनुष्य के भीतरी जगत का विश्लेषण और मनुष्य को उसकी गहराइयो मे नीचे ले जाना है। वे सत्यान्वेषण के लिए मनुष्य की बेचैनी को कला कहते हैं; उनके विचार से मानवात्मा की चरम अनुभूतियो की अभिव्यक्ति ही कला का लक्ष्य हो सकती है। कुर्टन ने लिखा है कि रसल कवि को केवल सौन्दर्य का कारीगर नही मानते थे, बल्कि, उनकी दृष्टि मे कवि होना नबी और द्रष्टा होने के समान है जिसकी बातो को दुनिया इसलिए सुनती है चूँकि ज्ञान के उद्गम का वासी होने के कारण द्रष्टाओ को मनुष्य मात्र के द्वारा सुने जाने का नैसर्गिक अधिकार होता है।

जिस प्रकार, रहस्यवाद उस लोक की अनुभूति है जो बुद्धि की पहुँच के परे पडता है, उसी प्रकार, कविता को भी रसल उन भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे जो बुद्धि के द्वारा किसी भी प्रकार व्यक्त नही किये जा सकते। अपने

एक कवि मित्र को उन्होने लिखा था कि "जिसके भीतर यह आस्था प्रबल नही हो कि कविता मानवात्मा की चरम अभिव्यक्ति है, उसे कविता लिखने का प्रयास ही नही करना चाहिये। और जो कविता लिखने लगा है उसे यह भी सोच लेना चाहिये कि काव्यगत भावनाओ और विचारो का सौन्दर्य वहाँ तक विकसित किया जाना आवश्यक है, जहाँ तक कवि की पहुँच हो सकती है। कविता की प्रक्रिया शुद्ध विश्लेपण और विशुद्ध चित्रण की प्रक्रिया है। कविता आरम्भ करने के पूर्व कवि मे एक प्रकार की बेचैनी होती है और जब कवि कविता लिखने लगे तब उसे बार-बार अपने-आपसे यह पूछते रहना चाहिये कि 'क्या मैं इन चीजो मे विश्वास करता हूँ ? क्या जो-कुछ मैं महसूस कर रहा था, वह यही चीज है ? और क्या मेरी कल्पना की अभिव्यक्ति ठीक-ठीक हो रही है ?"

कविता मे जिस चित्रमयता को, साधारणत , प्रमुखता दी जाती है, उसके पीछे, मुख्यतः, फैन्सी अथवा उपकल्पना का हाथ होता है। किन्तु, उपकल्पना पानी की ऊपरी सतह पर ही काम करती है अथवा वह वही तक नीचे जा सकती है जहाँ तक सूर्य की किरणे उसे रास्ता दिखलाती हैं। किन्तु, जीवन का सत्य तो वही तक सीमित नही रहता। जीवन, सचमुच ही, समुद्र के समान गम्भीर है और इसके बहुमूल्य रत्न जलराशि के घनान्धकार के नीचे प्रच्छन्न पडे हैं। इस अन्धकार को भेदकर समुद्र के तल तक जाने का प्रयास कवि केवल कल्पना के बल पर कर सकता है, उपकल्पना इस कार्य मे उसकी सहायता नही कर सकती। किन्तु, कल्पना और उपकल्पना मे शक्ति का भेद होने पर भी, दोनो के स्वरूप प्राय., समान है और जब उपकल्पना कवि के साथ चल रही हो तब बहुत सम्भव है कि कवि को यह भ्रम हो जाय कि उसकी पथ-प्रदर्शिका स्वय कल्पना ही साथ चल रही है। रस्किन ने दोनो का भेद बतलाते हुए कहा है कि उपकल्पना ऐसी रगीनियो की भी सृष्टि कर सकती है जो सत्य नही हो। किन्तु, कल्पना सत्य को छोडकर किसी और को ग्रहण ही नही करती। जो-कुछ असत्य और मिथ्या है, उसकी रचना मे कल्पना का हाथ नही होता। किन्तु, छलनामयी उपकल्पना से सावधान रहने के लिए ही, शायद, रसल ने यह कहा है कि कवि को कदम-कदम पर यह सोचते रहना चाहिये कि उसकी अनुभूति ठीक-ठीक चित्रित हो रही है या नही , अथवा जो-कुछ वह लिख रहा है, वह वही चीज है या नही, जिसका उसने अनुभव किया था।

रसल की अपनी कविताएँ इस कसौटी पर कहाँ तक खरी उतरी है, यह कहना जरा मुश्किल-सा काम है , क्योकि उनकी अनेक कविताओ की शैली कुछ अधूरी और उनमे आनेवाले चित्र धूमिल एवं अस्पष्ट हैं। किन्तु, एक बात है कि इन सभी कविताओ की लौ ऊपर की ओर है। कविता रचते समय रसल मन-ही-मन अपने-आपसे कुछ दूर निकल जाते थे और, सचमुच ही, उनकी धुँधली रचनाएँ

भी हमे अपने-आपसे अलग ले जाती है। दृश्य और गोचर की परिधि को तोड कर अनन्तता के किनारे आत्मा का विचरण, ऐसे चित्र रसल की कविता मे बार-बार मिलते है और, शायद, यही वह चीज है जिसे वे जीवन की गहराई मे उतारना कहते हैं।

Let thy young wanderer dream on :
Call him not home
A door opens, a breath, a voice
From the ancient room
Speaks to him now Be it dark or bright,
He is knit with his doom.

(GERMINAL)

चूँकि रसल साहित्य को इतनी बारीक चीज मानते थे, इसलिए, उनका यह विश्वास था कि रचना की परिमाणवृद्धि से साहित्य का मान नीचे जाता है। वे केवल यही नही चाहते थे कि लिखनेवालो की सख्या थोडी हो, बल्कि उनका यह भी विचार था कि जो लोग लिखने का काम करे भी, उन्हे चाहिये कि वे लेखन कम और चिन्तन अधिक करे, क्योकि प्रभूत चिन्तन के बिना रचना मे कसावट नही आ सकती। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार और प्रचार से साहित्य की जो बाढ आ गयी है, उसे वे मुद्रा-स्फीति की भाँति साहित्य की स्फीति (Inflation) कहते थे। जब-जब मुद्रा की स्फीति होती है, तब-तब उसका मान कम हो जाता है। इसी प्रकार, अतिशय स्फीति के कारण आज साहित्य का भी कोई प्रभाव नही रह गया है।*

बर्नार्ड शा कि क्षमता रूसो और वाल्तेयर की अपेक्षा कही महान् है, मगर, बर्नार्ड शा का आज के समाज पर वह प्रभाव नही है जो रूसो और वाल्तेयर का अपने समय मे था। कारण स्पष्ट है। शब्द-रूपी जिस मुद्रा के माध्यम से लेखक अपना व्यवसाय चलाते है, उसमे स्फीति आ गयी है और उसके मान का जादू लोगो के मन पर से जाता रहा है। इस दुरवस्था के सुधार का रसल ने यह उपाय बतलाया है कि लिखने की छूट केवल उसी लेखक को दो, जो लिखे बिना जी ही

---

* The currency of literature is words and the printing press enables writers to inflate that currency as readily as the printing press in Germany or Russia enabled the Governments there to manufacture marks and roubles, until, at list, a million mark or rouble note did not pay for the cost of printing it

[The Living Torch]

नही सकता। और ऐसे लेखक को भी चाहिये कि वह अपनी अनुभूति को कम-से-कम शब्दों मे अधिक-से-अधिक प्रबलता के साथ व्यक्त करने की कोशिश करे। "कपिल और पतञ्जलि के सूत्रो को देखो। सारी आयु तक मनन करते रहने पर भी मनुष्य उनकी तह तक नही पहुँच पाता। इन सूत्रो में से एक का भी पूरा अर्थ अगर हमपर प्रकट हो जाय तो हम अपना दर्शन आप बना सकते हैं।" कोई आश्चर्य नही कि रसल का साहित्य परिमाण मे इतना थोडा रहा।

रसल ने भारतीय दर्शन से जो-कुछ सीखा था, उसीकी अनुभूति से उन्होंने साहित्य की जाँच के लिए अपना एक अलग मापदंड बना लिया। भारतीय दर्शन की शिक्षा मनुष्य को अगम और अगाध के आमने-सामने ले जाती है। बाहर के रगो मे जो-कुछ झलकता है, भारतीय मनीषी वही तक नही रुकते। सत्य का वास तो रंगो के परे और आवरण के पार है। कविता मे आनेवाले शब्दो की सुकुमारता, पदो की ललित योजना, चित्रमयता और अलंकार तथा भणिति-भगिमा मे से किसी को भी वे कविता का प्रधान गुण नही मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि मे ये सभी गुण अप्रमुख और गौण हैं। कविता की परख के लिए उनके पास केवल एक कसौटी है और वह यह कि "यह कविता पारदर्शी (Transparent) है अथवा अ-पारदर्शी (Opaque)? अर्थात् इस कविता मे मैं केवल बाह्य सौन्दर्य ही देख पाता हूँ अथवा इसके भीतर से मुझे दूर की चीज भी दिखालायी पड़ती है? और इसके बाद मैं दूसरी बात यह जानना चाहता हूँ कि इस कविता का कवि जीवन की कितनी गहराई मे से बोल रहा है?" ये बडे ही मौलिक प्रश्न हैं; क्योकि साहित्य मे, सचमुच ही, हम जिस सौन्दर्य को चर्मचक्षु अथवा स्मृति की आँखो से देख सकते है, उसकी रचना अपेक्षाकृत सरल कार्य है। कहते है कि कहानी मे मनोविज्ञान का जो स्थान है, कविता मे चित्रमयता का वही महत्त्व है। कविता की पक्ति-पक्ति मे चित्र उगाते चलना, सचमुच ही, प्रतिभासम्पन्नता का ज्वलंत प्रमाण है। किन्तु, इससे भी बड़ी एक और शक्ति है जो वर्ण्य विषय को फूलो, रगो और मणियो से सजाने के बजाय उसके तल मे प्रवेश करके भीतर के सत्य को ही उद्घाटित कर देती है। जब ऐसा होता है, तब हम महसूस करने लगते हैं, मानो, किसी ने हमारे पाँव के नीचे से जमीन खीच ली हो, मानो, हम जिस भूमि पर खडे थे उसके मूल मे कोई विस्फोट हो गया हो, मानो, हम जो-कुछ देख रहे थे, वह अचानक उलट गया हो। फूलो की तस्वीर बनाकर पाठको को प्रसन्न करना उतना कठिन नही होता जितना कि उनके भीतर किसी शंका, जिज्ञासा या विचारोत्तेजना को जन्म देना अथवा उनकी किसी ऐसी शंका का समाधान करना जिसका उत्तर साधारण बुद्धि से नही दिया जा सकता हो।

जो कवि अपनी देखी हुई सुन्दरता को हमे भी दिखला दे, वह 'जीनियस' होगा। किन्तु, उसे हम क्या कहकर पुकारेंगे जो अपनी देखने की पूरी शक्ति ही हमे दे डालता है?

रवीन्द्र-जयन्ती के दिन

एक ही रवीन्द्रनाथ कितने अधिक रूपो मे पूजित और प्रशसित हो रहे हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। कवि को सन्त, दार्शनिक, ऋषि, महर्षि तथा नबी या अवतार मान लेने की हमारी पुरानी आदत है, और अब रवीन्द्रनाथ भी अपनी जाति की इस आदत का शिकार होगे, इसकी सम्भावना बढती जा रही है।

हम भारतवासियो की भावाकुलता का क्या कहना ! जीवन-भर हम अपने नेताओ की चाहे अवहेलना ही क्यो नही करते रहें, उनके मरते ही हम उन्हे देव-कोटि मे डालकर अक्षत और फूल चढाने लगते हैं ! गांधीजी के मरने के बाद हमने उनके उपदेशो की ओर से तो मुँह फेर लिया, किन्तु बडे ही उत्साह के साथ अब हम उनकी मूर्तियाँ और मन्दिर बनवा रहे है ! रवीन्द्र के सम्बन्ध मे भी हमारी यही वृत्ति है। यूरोप मे उनके सम्बन्ध मे कहाँ, किसने, क्या कहा, इसका संकलन करने मे हमे बडा ही आनन्द आता है ; किन्तु, रवीन्द्र-साहित्य की तह मे पैठकर उसके सौरभ को रोम-रोम से पीने की धीरता और साहस का हममे अपेक्षाकृत अभाव है। सन्त, महात्मा, द्रष्टा, ऋषि, दर्शनवेत्ता और राजनीतिज्ञ रवीन्द्रनाथ को हम जो भी चाहे, कह सकते है, किन्तु, इनमे से कोई भी उपाधि उनका सम्यक् परिचय नही दे सकती। उनका वास्तविक और सक्षिप्त परिचय तो इतना ही है कि वे कवि है। उन्होने स्वय भी गाने की सामर्थ्य को छोडकर भगवान से और कुछ नही माँगा। और गीतो द्वारा उन्हे जो गौरव और शान्ति मिलनी थी, उसी पर उन्हें नाज भी था :—

> तुमि जखन गान गाइते बलो, गर्व आमार भरे उठे बुके !

भगवान के प्रेम पर उनका दावा ज्ञान और कर्म के लिए नही, प्रत्युत, सगीत के लिए ही था। उन्होने स्वय कहा :—

> God honours me when I work.
> He loves me when I sing.

\+ + + +

> There are seekers of wisdome and seekers of truth,
> I seek thy company so that I may sing.

और, सचमुच ही, गीतो का स्रष्टा अवतार, नबी, द्रष्टा और ऋषि होने के लिए क्यो ललचाये ? कौन ऐसा काम है, जिसे अवतार और नबी तो कर गुजरे ; किन्तु कवि नही कर सका ? जोश ने कहा है कि :—

यह शायरी है, अर्श की सूरतगरी नहीं;
यानी खुदा-न-खास्ते, पैगम्बरी नहीं।

अवतारो और पैगम्बरो की शान मे ऐसा कहना सोखी समझा जाता है और लोग ऐमी उक्तियो को खोखली गर्वोक्ति कहकर आसानी से टाल देते हैं। मगर कवि और चिन्तक की उक्ति को हँसकर टालते रहने का अभिशाप टालनेवालो को ही भोगना पडता है। वर्नार्ड शा को दुनिया ने यह कहकर टाल दिया कि यह ऐसी ही विचित्र बातें बका करता है। किन्तु, इस प्रकार शा को बर्खास्त कर देने से शा की वाणी मे से सत्यता का लोप नही हो जाता। वह तो सत्य ही हाँ, है। संसार उसके प्रभावो से बचने का जो प्रयास करता है, वही उसका मिथ्याचार है।

साधक और कवि की भावदशा, प्राय, एक होती है। जहाँ सत्य का निवास है, उस लोक मे दोनो ही पहुँचते है, किन्तु, साधक वही बैठ जाता है और कवि वहाँ से लौटकर अपनी अनुभूति का सवाद दुनिया को देने के लिए वापस आता रहता है। दोनो मे कौन श्रेष्ठ है, यह वे नही समझेंगे, जो हर जगह गैरिक वसन को प्रणाम तथा दाढी का चुम्बन किया करते हैं। कवि, शायद, इसलिए तबाह है कि वह अपनी कमजोरियो, अपनी बेचैनियो और अपने उन्मादो का राज दुनिया-वालो से नही छिपा सकता। इसके सिवा, वह मनुष्य-मात्र की वेदना का चित्रकार होता है। उसका आनन्द सन्यासियो की तरह जीवन से भागकर दूर खडा होने मे नही, बल्कि, उसके घमासान के बीच घुसकर गीत गाने मे है। मगर, उसके स्वरो को छूकर, उसके फूलो को सूँघकर दुनिया कहने लगती है—"यह तो अलौकिक नही हुआ। इसमे तो वही गन्ध है, जो बहुत मनुष्यो मे मिलती है। अतएव, कवि! तुम भी हमी-जैसे निकले।" ध्यान देने की बात है कि दुनिया उससे डरती है, जो औरो से कुछ भिन्न दीखे, वह उसे पूजती है, जिसकी कमजोरियो का उसे ज्ञान नही हो। मगर जभी यह ज्ञान होने लगता है, पूजा शिथिल और आदर के भाव क्षीण होने लगते है। तो फिर दुनिया मे वह आदमी सन्तत्व की कामना क्यो करे, जो कवित्व का स्वामी है? और हमी अपने कवि को अधिक-से-अधिक सम्मान देने के लिए उसे ऋषि-महर्षि क्यो बनाने लगे? क्या यह काफी नही है कि कवि अपनी तमाम कमजोरियो के साथ भी हमारे हृदय के पास रहता है, अतएव वह हमारा प्यारा है?

और हम पूछते है कि अवतारो ने दुनिया को ऐसी कौन-सी चीज दी है, जिसे कवि नही दे सकता था? कवि का मस्तिष्क अन्य सभी मस्तिष्कों की अपेक्षा कही सत्य होता है। अयोध्या मे राम का जो राजमहल बना था, वह कभी का विनष्ट हो चुका। किन्तु, वाल्मीकि ने राम के लिए अपने हृदय मे जो महल बनाया था, उसमे तो राम आज भी निवास कर रहे हैं। और

मिला करते है। उनके उपन्यासो और कहानियो मे भी वे सभी तत्त्व वर्त्तमान है, जिन्हे लेकर अच्छी कहानियाँ और अच्छे उपन्यास लिखे जाते है। किन्तु, यह सब होते हुए भी कोई एक चीज है, जो रवि बाबू की कविताओ के समान ही उनकी अन्य रचनाओ मे भी व्याप्त मिलती है, कोई एक किरण है, जो उनके निबन्धो को काव्य की दीप्ति से विभासित रखती है; कोई एक सौरभ है, जो उनके उपन्यासो के वायुमडल मे फैलता रहता है। उनके दार्शनिक चिन्तन का आधार अनुभूति एव उस अनुभूति की अभिव्यक्ति का मार्ग कविता का मार्ग है। अतएव, वे जो-कुछ भी लिखते है, उसमे उनकी काव्यात्मा प्रधान हो उठती है।

हम रवीन्द्रनाथ के काव्यपक्ष की प्रमुखता पर इसलिए भी जोर देना चाहते है कि आज की दुनिया मे मनुष्य की काव्यात्मक प्रवृत्तियो पर जोर देना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यह मानवता का दुर्भाग्य होगा, अगर हम रवि बाबू को ऋषि-पद पर बैठाकर उनके कवि-पद को गौण कर देगे—ठीक उसी तरह, जैसे गांधीजी को अवतार मानकर उनकी मानवीयता को गायब कर देने की भूल इस देश मे आज अत्यन्त बडे पैमाने पर खुलेआम की जा रही है। गांधीजी देवत्व की प्रतिमा नही, बल्कि इस बात का प्रमाण बनकर ससार से विदा हुए हैं कि मनुष्य की ऊँचाई कहाँ तक जा सकती है। उनकी सच्ची पूजा यही हो सकती है कि ससार के अधिक-से-अधिक लोग उनका अनुसरण करके अपने को उन्नत तथा ससार को आज की अपेक्षा अधिक रमणीय बनावे। इसी प्रकार रवि बाबू की स्मृति का भी सच्चा सत्कार यही है कि हम उनके काव्यात्मक रूप को पहचाने तथा उन्हे अपनी आत्मा के वन मे लेकर आनन्द के साथ विचरण करे।

विश्व की वर्त्तमान वेदना का कारण यह नही है कि उसके नेता परस्पर एक-दूसरे का अविश्वास करते है, बल्कि यह कि इन नेताओ के अपने हृदय और मस्तिष्क, दोनो ही, एक-दूसरे से विच्छिन्न हो गये हैं। हृदय और मस्तिष्क के सम्बन्ध का प्रश्न ससार की अत्यन्त पुरातन समस्या है। ससार मे एक वह भी समय था, जब कि मनुष्य का हृदय ही उसके लिए सब कुछ था तथा मस्तिष्क उसका सहायक-मात्र था। मस्तिष्क रोटियाँ पैदा करता है, किन्तु स्वाद उनमे हृदय से आता है। मस्तिष्क कपडे बुनता है, किन्तु सौन्दर्य उसमे हृदय से उत्पन्न होता है। मस्तिष्क प्रतिमाएँ गढ सकता है, किन्तु हृदय के योग के बिना उसमे प्राणो का सचार नही किया जा सकता। मस्तिष्क सूझ है, मस्तिष्क आविष्कार और अनुसधान है। वह चाहे तो तलवारे भी गढ ले और एटम-बम भी बना ले। मगर हृदय का बस चले, तो वह लोहे और एटम दोनो की ही शक्तियो का उपयोग मनुष्य के सार्वजनीन कल्याण के निमित्त कर सकता है।

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि सभ्यता के विशाल अट्टालिकाओ पर मस्तिष्क हनूमान बनकर ज्ञानाग्नि से सबको दग्ध करता हुआ उछल रहा है और नीचे अशोक के उपेक्षित वन मे हृदय की सीता वन्दिनी और उदास बनकर जी रही है। हृदय और मस्तिष्क परस्पर शत्रु नही, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए, ससार के सच्चे कल्याणकारी नेताओ का लक्षण यह नही रहा है कि उनके हृदय और मस्तिष्क परस्पर-विरोधी थे, बल्कि यह कि उनके बीच पूरा संतुलन और सामंजस्य था।

कठिनाई यह है कि न तो हृदय मस्तिष्क के अधीन किया जा सकता है और न मस्तिष्क हृदय के। उचित मार्ग यह है कि दोनो मे से कोई एक-दूसरे को आदरपूर्वक बुलाकर अपने पार्श्व मे बिठा ले। गाँधीजी के विषय मे यह बात थी कि उनके मस्तिष्क ने हृदय को बुलाकर अपने आसन पर बिठा लिया था और गुरुदेव के पक्ष मे यह हुआ कि उनका मस्तिष्क ही उतरकर हृदय के पद्म पर जा विराजा। ये दोनो ही मार्ग श्रेष्ठ हैं, ये दोनो ही पन्थ उन्नति और कल्याण के पन्थ हैं। किन्तु, इनके सिवा जो हृदय और मस्तिष्क के वियोग का पन्थ है, उसपर चलते-चलते ससार व्याकुल हो गया है। सभ्यता के समस्त रोगो का निदान यह है कि मनुष्य ने हृदय की उपेक्षा करके मस्तिष्क की आवश्यकता से अधिक आराधना की है। जब तक हृदय का आसन मस्तिष्क की ऊँचाई तक नही पहुँचेगा, तब तक संसार यो ही दग्ध होता रहेगा।

दुनिया मे विज्ञान की बनाई हुई गूँगी तस्वीरें मार-काट मचा रही हैं। वे गूँगी है और बहरी भी। इसलिए, वे न तो अपना दुःख बोल सकती है और न दूसरो के ही आर्त्तनाद को सुन सकती हैं। इन कुरूप प्रतिमाओ मे सुघारता लाने तथा उनके भीतर चेतना को स्फुरित करने के लिए हृदय के उपेक्षित देवता को आमन्त्रित करना होगा। हृदय को जाग्रत एव चैतन्य करने के लिए गाँधी के समान नेता और रवीन्द्र के समान कवि की आवश्यकता है। नेता वह, जो यह कहे कि विज्ञान से अगर लपटे निकलती हैं, तो आओ, हम पैदल या बैलगाडियो पर चलें। और कवि वह, जो यह कहे कि—

सबार ऊपर मानुस सत्य तार ऊपर नाइ।

ससार का सम्यक् सचालन करने के लिए केवल यह आवश्यक नही है कि हम गणित की पाटी पर खरिये से रेखाएँ खीचकर इस बात का पता लगायें कि एक नक्षत्र से दूसरा नक्षत्र कितनी दूर है, बल्कि यह भी कि आकाश की ओर देखते-देखते हम तारो की सुन्दरता पर भूलकर कभी-कभी उनकी पारस्परिक दूरी का हिसाब लगाना भी भूल जायें। विश्व मे शान्ति की स्थापना करने के लिए केवल यही आवश्यक नही कि हम आँखें मूँदकर अपने शत्रुओ के हृदय

मे सगीनें चुभोते चले जायँ, बल्कि यह भी कि अचानक अपनी हमदर्दी का कुछ भाग अपने दुश्मनो के लिए रखकर खुद अपने-आपके विरुद्ध भी लड़ने लगें। हर मनुष्य की आत्मा के आँगन मे पीपल का एक पेड़ होना चाहिये, जिसकी छाया मे आनेवालो पर हाथ नही उठाया जाय। मगर, यह छाया-तरु बाहर से नही लाया जाता। वर्षा की रिमझिम और पत्तो पर गिरनेवाली शबनम की आवाज सुनते-सुनते वह मनुष्य के हृदय में स्वयं अकुरित हो जाता है। रवीन्द्रनाथ ने अपने सहस्रो गानो द्वारा मनुष्य मात्र के हृदय मे इसी छायावृक्ष को अकुरित और विकसित करने का प्रयास किया हैं।

रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

सामान्य मनुष्य को हम जिस गज से मापते हैं, महापुरुषो की ऊँचाई और विस्तार उसी गज से मापा नही जा सकता। दूसरी बात यह है कि महापुरुषो का मस्तिष्क इतना विशाल होता है कि उसमे एक साथ दोनो ध्रुव निवास कर सकते हैं और बोलनेवाला जिन्दगी भर एक ही ध्रुव से नही बोलता; वह जब, जहाँ रहता है, तब उसी ध्रुव से अपना सन्देश सुनाता है।

मगर, सुननेवाले तो छोटे ठहरे। वे कहते हैं, यह विरोधाभास है। वे कहते हैं, कल हमने जितना मापा था, आज उससे लम्बाई कम या अधिक पड़ती है। मगर, कौन समझाये उन्हे यह बात कि एक शब्द का अर्थ सभी शब्दो मे निहित है और सभी शब्द किसी एक ही अर्थ की ओर इङ्गित करते है।

गांधीजी और रवीन्द्रनाथ को लेकर जब-तब यह विवाद उठाया जाता है कि उनमे से एक राष्ट्रीय और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय था। किन्तु, ऐसा कहके गांधीजी को जहाँ हम सीमित करके छोड देते हैं, वहाँ रवीन्द्र के भी केन्द्र-विन्दु का हम लोप कर देते हैं, जिससे सलग्न रहे बिना परिधि की रेखा पर घूमना असम्भव नही तो एक निरवलम्ब कृत्य तो अवश्य है।

सच पूछिये तो गांधीजी वही पुरुष थे जिसकी प्रतीक्षा रवीन्द्र के गीतो और नाटको मे की जा रही थी और जिसके स्वागत मे कवि ने पहले से ही अपनी कल्पना को मिट्टी पर बिछा रखा था। और रवीन्द्र भारत की ठीक वही आत्मा थे, जिसके उद्‌गारो को मूर्त्त रूप देने के लिए गांधी का आविर्भाव हुआ था। सच पूछिये तो गांधी और रवीन्द्र एक-दूसरे के पूरक नही, बल्कि, एक ही हीरे के दो पहलुओ के समान थे।

जब गांधीजी ने शरीर के अखाडे मे आत्मा का शस्त्र निकाला तब सारी दुनिया एक बार अनुपम चमत्कार से भर गयी और स्वय गुरुदेव ने भी अपने चिरपोषित आदर्श को अपनी ही जन्मभूमि मे आकर ग्रहण करते देखकर लन्दन से लिखा कि "हम तो गांधीजी के इसलिए कृतज्ञ हैं कि वे भारतवर्ष को यह प्रमाणित करने का अवसर दे रहे हैं कि मानवता की दिव्यता मे उसका अब भी अटूट विश्वास है।"

इस एक उक्ति से इस बात का सकेत मिलता है कि राष्ट्रीयता का कौन रूप रवीन्द्रनाथ को प्रिय था। या अगर ऊँचा उठकर देखा जाय तो- गांधीजी

और रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता-सम्बन्धी धारणाओ मे बहुत बडा भेद नही मिलेगा। गाँधीजी ने भी विश्व-वेदना से पीडित होकर एक बार कहा था कि हिन्दुस्तान की आजादी अगर पेरिस और लन्दन के भस्मावशेष पर पडा मिली भी तो वह किस काम की होगी ? गाँधीजी रवीन्द्रनाथ की तरह ही विश्ववादी थे। किन्तु, इतना होने पर भी अगर गाँधीजी मे हमे राष्ट्र की रेखाएँ विलीन होती नही दिखायी देती है, तो उसका सबसे प्रधान कारण यह है कि गाँधीजी ने जीवन मे राजनीति के माध्यम से प्रवेश किया था और यद्यपि, इस माध्यम को फैलाकर वे समस्त विश्व तक ले गये, फिर भी उसके आरम्भिक चिह्न अन्त तक बने रहे। इसके विपरीत, रवीन्द्रनाथ जीवन मे कौतुक, विस्मय, श्रद्धा और धर्म के माध्यम से आये थे। ऐसा लगता है, मानो, उन्होने आस-पास नजर डालने के पहले दूर क्षितिज पर ही दृष्टिपात किया हो, जहाँ भूमि आकाश से मिली हुई मालूम होती है। निकट से देखने पर एक घर और दूसरे घर के बीच जो अन्तराल है, वही प्रमुख रहता है। किन्तु, दूर से देखने पर सारा गाँव निरन्तराल पु ज के समान दीखता है। रवीन्द्रनाथ की प्रथम दृष्टि मे ही विश्व की जो निरन्तरालता प्रमुख हो उठी थी, वह बराबर उनके साथ रही।

रवीन्द्रनाथ मे राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता एकाकार दीखती है। अपनी मान्यता की राष्ट्रीयता की व्याख्या करते हुए उन्होने 'रिलीज ऑफ मैन' मे कहा है कि भारतवर्ष को मैं कोई भौगोलिक खण्ड नही, बल्कि एक भावना मानता हूँ। यह भावना आध्यात्मिक मनुष्य की सत्ता मे विश्वास की भावना है, यह भावना उस मनुष्य की खोज मे इस प्रकार लग जाने की भावना है, जिससे सभव हे, हमारी सारी भौतिक समृद्धियाँ ही समाप्त हो जायें। भारत सब कुछ खोकर भी आजतक उस भावना से लिपटा हुआ है, एक यही गौरव उसके भविष्य की आशा के लिए काफी है। उन्होने कहा है कि विदेशो मे भी जब किसी मनुष्य मे उन्हे भारतीयता का यह लक्षण मिलता था, तब वे उसे आत्मीय जानकर उसका सत्कार करते थे। एक जाति के लोग, दूसरी जाति के लोगो से सर्वथा भिन्न है, इस चेतना से ही कवि घबरा जाते थे और भारतीय होने का अभिमान उन्हे इसलिए था कि वे मानते थे कि भारत की मूलात्मा इस भिन्नता के विरुद्ध है। उनका विश्वास था कि मनुष्य के अनन्त एव निरवच्छिन्न व्यक्तित्व को पूजनेवाली इस भावना की जिस दिन भी विजय होगी, उस दिन, असल मे, भारत ही विजयी होगा।

यही राष्ट्रीयता उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता का भी प्रतीक थी। बहुत वर्ष पहले 'प्रवासी' शीर्षक अपनी एक कविता मे उन्होने लिखा था :—

सब ठाईं मोर घर आछे आमि सेइ घर मरि खूँजिया,
देशे-देशे मोर देश आछे आमि सेइ देश लेबो जूझिया।

मेरा घर सभी जगहो पर है, मैं उसी को खोज रहा हूँ। मेरा देश सभी देशो मे है, जिसे प्राप्त करने के लिए मैं सघर्ष करूंगा।

स्पष्ट ही, यह मनुष्य का शारीरिक गृह नही है, जो अक्सर, दीवारो से घिरा रहा करता है। यह तो आत्मा का गृह और आत्मा का ही देश है। शरीर की दीवार, एक आत्मा को दूसरी आत्मा के साथ, मिलने से रोक नही सकती। मनुष्य-मनुष्य मे शरीर को लेकर जो भेद है, वही वर्ग, वर्ण, जाति, श्रेणी, और राष्ट्र के घेरे उत्पन्न करता है। एक बार अगर इस देश का बाँध टूट जाय, तो विश्वमानवता का समुद्र एक साथ लहरा उठेगा। रवीन्द्रनाथ योद्धा नही थे, इसलिए, भिन्नता के बाँधो पर उन्होंने खुलकर प्रहार नही किया। किन्तु, अपने समस्त साहित्य के द्वारा उन्होने मनुष्य की आत्मा की यह पुकार भेजी है कि इन बाँधो के ऊपर होकर बह जाओ और अपने उस रूप के साथ एकाकार हो जाओ जो बन्धन के परे, न जाने कब से, तुमसे मिलने को बेचैन हो रहा है।

अपनी कल्पना की राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए, उन्होने अपने एक दीक्षान्त भाषण मे कहा था कि आज की अनन्त समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्याएँ हैं। किन्तु, इनके उपयुक्त सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय मस्तिष्क का अभी निर्माण ही नही हो पाया है। जिसे जनसाधारण अन्तर्राष्ट्रीय और विश्ववाद कहता है, रवीन्द्रनाथ को उससे प्रेम नही था। वे नाम और आन्दोलन नही, बल्कि, मनुष्य की आत्मा का निर्बन्ध प्रसार चाहते थे। विश्ववाद की उपमा उन्होने बाष्प से दी है। पानी जब भाप बन जाता है, तब वह विशाल और पुंजीभूत तो मालूम होता है, किन्तु उस भाप को लेकर कोई क्या करेगा? और भाप तो किसी की पकड़ मे भी नही आती। विश्ववाद का नारा भी ऐसा ही अस्पष्ट एव धुँधला पदार्थ है। असल जरूरत तो यह है कि मस्तिष्क का हृदय उन्नत हो, उसकी सहानुभूति बढे और दूसरो की ओर देखनेवाली उसकी दृष्टि बदल जाय। गुरुदेव का कहना है, सच्चा विश्ववाद यह नही है कि हम अपने घरो की दीवारो को तोड दें, बल्कि, यह कि हम अपने पडोसियो और अतिथियो को वह प्रेमपूर्ण आतिथ्य अर्पित करने को तैयार रहे, जिसपर उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

धरती अपनी धुरी पर भी घूमती है और वह सूर्य के भी चारो ओर घूमती है। उसी प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति की भी दो गतियाँ होनी चाहिये। एक तो अपनी निजी वैयक्तिकता की धुरी पर घूमने के लिए और दूसरी उस आदर्श के चारो ओर घूमने के लिए जिसमे समस्त मानव-समाज समाहित है।

●

क्या रवीन्द्रनाथ अभारतीय हैं ?

एडवर्ड थामसन ने रवीन्द्रनाथ पर जो मोटी-सी किताब लिखी है, उसके अन्त मे उन्होने किसी बंगाली विद्वान् का एक गुमनाम पत्र छापा है, जिसमे कहा गया है कि, रवीन्द्रनाथ का जन्म बगाल मे तो जरूर हुआ था, किन्तु, एक ऐसे परिवार मे, जिसका सांस्कृतिक वातावरण बिलकुल योरोपीय था तथा जिसमे उपनिषदों को छोडकर और किसी भी भारतीय गुण का कोई अस्तित्व नही था। रवीन्द्रनाथ का सोचने का ढंग भी एकदम अँगरेजोवाला था, यहाँ तक कि उनकी अँगरेजी गीताजलि को मैं उनकी बँगला गीताजलि से अधिक पसन्द करता हूँ।....अगर हमारा देश किसी दिन पाश्चात्य सभ्यता मे नख से सिख तक शराबोर हो जाय तो इसमे कोई सन्देह नही कि रवीन्द्रनाथ भारत मे एक नये युग के अग्रदूत समझे जायँगे। किन्तु, अगर ऐसा नही हुआ तो उनकी प्रसिद्धि धीरे-धीरे खत्म हो जायगी और साहित्य के इतिहास मे उनकी गिनती सिर्फ उस स्कूल के कवियो मे रह जायगी, जिन्होने अपनी सारी प्रेरणा विदेशो से ली है। पच्छिम के लोग रवीन्द्रनाथ की जितनी भी बडाई करे, उस बडाई का प्रभाव हमलोगो पर पडनेवाला नही है। उलटे, इससे तो यही सिद्ध होता है कि रवीन्द्रनाथ की शैली इतनी योरोपीय है कि योरोपवालो को वह तुरन्त अपील करती है।....रवीन्द्रनाथ को बगाल ने योरोप को नही दिया है, बल्कि, योरोप ने ही उन्हे बगालियो को प्रदान किया है। रवीन्द्रनाथ की प्रशसा के बहाने योरोप के विद्वान्, दर-असल, अपनी ही प्रशसा करते हैं।

साहित्य मे केवल करुणा, क्षमा और प्रेम ही नही लिखे जाते, उसमे ईर्ष्या, द्वेष और छोटापा भी बडी ही सफलता के साथ अकित किये जाते है। नोबुल-पुरस्कार मिलने के बाद जब बगाल के विद्वान् रवीन्द्रनाथ का अभिनन्दन करने गये तब रवि बाबू ने एक भाषण के सिलसिले मे कहा था कि कवि का काम मनुष्य के हृदय मे चलता है। किन्तु, हृदय मे कही धूप होती है और कही छाया। अतएव, कवि की कविता को पढकर कोई सुखी होता है और दुखी। जो दुखी होता है, वह बदले मे, उस काव्य पर प्रहार करता है। और मेरी कविताओ के सम्बन्ध मे भी इस नियम का तनिक भी अपवाद नही हुआ है।

पता नही, थॉमसन के पास पत्र भेजनेवाला यह विद्वान् रवीन्द्र के सम्बन्ध में किस भावना से पीडित था।

किन्तु, क्या कारण है कि रवि बाबू के सम्बन्ध मे ऐसी शका उठायी गयी? क्या इसलिए कि उन्होने अपनी रचनाओ का अँगरेजी मे अनुवाद किया? अथवा

इसलिए कि उन्हे नोबुल-पुरस्कार प्राप्त हो गया ? या इसलिए कि भारतवर्ष जब देशभक्ति के जोश मे मनमाने ढग पर बोल रहा था, तब भी रवीन्द्रनाथ अपने शील को नही छोड सके ?

ये फिजूल सवाल मैंने इसलिए उठाये है ; क्योंकि इन सारी ऊपरी बातो के बहुत नीचे, सत्य की जो असली आधार-शिला है, उसपर रवीन्द्रनाथ के अभारतीय होने की कोई भी रेखा या निशान नही मिलते। उलटे, उसपर हम जो चित्रकारी पाते हैं, वह भारत की सनातन आत्मा का ही चित्र है। यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ का स्वर पहले के कवियो के स्वरो से भिन्न है, किन्तु, यह भेद जाति का नही, बल्कि, गुण का भेद है , यह भेद देश का नही, बल्कि, समय का भेद है। वैसे, रवीन्द्र-साहित्य के विषय भी भारत की नदी, भारत के फूल, भारत की मिट्टी और भारत के ही नर-नारी हैं, जो उनके पूर्ववर्त्ती सभी भारतीय कवियो के विषय थे। और यह भी ठीक है कि रवीन्द्रनाथ के भीतर अगर किसी पूर्ववर्त्ती कवि की आत्मा फिर से उतरी हुई मानी जा सकती है, तो वह कालिदास की ही आत्मा हो सकती है, शेक्सपियर या मिल्टन अथवा शेली या कीट्स की नही। मिल्टन के साहित्य का तो किंचित् प्रभाव भी उनपर लक्षित नहीं होता। किन्तु, हृदय जहाँ उनका कालिदास का था, वहाँ दृष्टि उनकी भोज के समय की नही थी। ऐसा लगता है कि भारत की नवीन अनुभूतियो ने जब अपने को कालिदास की सरसता के साथ अभिव्यक्त करना चाहा, तब कालिदास ही भारत मे रवीन्द्र बनकर दुबारा पैदा हुए। रवीन्द्रनाथ का भावपक्ष परम्परागत भारतीयता से पूर्ण था। उनके सामने वही दुनिया झिलमिला रही थी जो हमारे उपनिषत्कालीन ऋषियो की दुनिया थी। उनके हृदय के मूलभाव भी वही थे, जो हमारे देश के मध्यकालीन वैष्णव कवियो के रहे होगे। किन्तु, उनकी दृष्टि वही नहीं थी, जो मध्यकालीन भारतीयो की थी। वे विज्ञान के जाग्रत युग के मनुष्य थे और अन्धविश्वास तथा निस्सार रूढियो का उनपर कोई प्रभाव नही था। भोज के समय से गाँधी-युग अथवा जगदीशकाल तक आते-आते हमारी अनुभूतियो मे जो परिवर्त्तन हो गया था, उसी परिवर्त्तन ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए रवीन्द्रनाथ को उत्पन्न किया। अगर रवीन्द्रनाथ अभारतीय है तो उनके समय का प्रत्येक चैतन्य भारतीय अभारतीय कहा जायेगा , क्योंकि रवीन्द्रनाथ ने ऐसी कोई वात नही कही जिसकी अनुभूति अस्पष्ट रूप से हमारे हृदयो मे नही चल रही थी। उन्होने विश्वात्मा की एकता पर जोर दिया जो भारत का सनातन सन्देश है। उन्होने आध्यात्मिक मनुष्य की सत्ता मे अपने विश्वास को प्रवलता से दुहराया जो भारत की आत्मा का चिरन्तन विश्वास है। मनुष्य-मनुष्य के ऊपर जो एक वडा मनुष्य है, रवीन्द्रनाथ की कविता की पक्ति-पक्ति मे उसके चरणो की चाप सुनायी पड़ती है और उसके चरणो की यह चाप भारतीय साहित्य

मे अनन्तकाल से गूँजती आयी है। भारत नाम मे जो भी दिव्यता और आध्यात्मिक सुरभि व्याप्त है, भारत अनन्तकाल से मनुष्य के जिन गुण-विशेषो का प्रतीक माना जाता रहा है, रवीन्द्रनाथ उसके सबसे बडे व्याख्याता थे और योरोप ने उनका आदर इसलिए नही किया कि वे योरोपीय धर्म तथा दर्शन पर आसक्त थे, वल्कि, इसलिए कि वे उन गुणो और विभूतियो को लेकर खडे हुए थे जो योरोप मे नही थी और जिनके अभाव से पीडित होकर वहुत दिनो से पश्चिम की आँख पूरव की ओर लगी रही है।

गाँधी और रवीन्द्र, इन दो मूर्त्तियो के माध्यम मे भारत ने पश्चिमी जगत् को यह विश्वास दिलाया कि उसकी आत्मा अभी मरी नही, वल्कि, पूर्ण रूप से जीवित और चैतन्य है। अनादिकाल से भारत उच्च तथा सूक्ष्म मानवता का सबसे जाज्वल्यमान प्रतिनिधि रहा है, जिसकी अन्य देशो मे सिर्फ कल्पना की जाती रही है। गाँधीजी के विषय मे आइस्टाइन ने कहा था कि कई पीढियो के बाद लोग जब गाँधीजी का चरित पढेंगे तब उन्हे यह विश्वास ही नही होगा कि ऐसा कोई मनुष्य किसी समय सचमुच जिन्दा था। रवीन्द्रनाथ की कविताएँ जब ईट्स के सामने पहले-पहल आयीं तब उसने अपने साहित्यिक मित्रो से चकित होकर कहा कि भारत मे तो एक ऐसा कवि उत्पन्न हुआ है, जो हम सबो से कही श्रेष्ठ और महान् है।

गुलामी के दिनो में भारत से बाहर भारत की काफी भर्त्सना की गयी, क्योकि हमारे मालिको को ससार पर यह जाहिर करना था कि भारत अर्धसभ्य देश है और उसे सभ्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि ब्रिटेन कई सदियो तक उसपर राज्य करता रहे। हमारी सभ्यता और सस्कृति मे जो कुछ भी स्थूल तथा कुरूप था, वह दुनिया की नजरो मे प्रमुख बनाया जा रहा था, यहाँ तक कि हमारे अपने देश-वासी और धर्म-वन्धु भी इस प्रचार से घवराकर ईसाइयत स्वीकार करने लगे थे। इस दुरवस्था का सुधार करने के लिए देश मे कितने ही सुधारक उत्पन्न हुए जो हिन्दू-धर्म का वह रूप ससार के सामने लाना चाहते थे, जिसे वैज्ञानिक युग का विवेकशील मनुष्य श्रद्धा से ग्रहण कर सके। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, परमहस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द, सब-के-सब, एक इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थे और इनके उपदेशो के परिणाम-स्वरूप, हिन्दू-धर्म का परिमार्जन और परिष्कार हुआ। उसी के चलते हम आज भी वडे ही गौरव के साथ अपने को हिन्दू घोषित कर सकते हैं। समय के साथ सभी चीजो पर मैल की परतें जमा करती हैं और प्रत्येक युग मे सन्त और सुधारक आकर इन परतो को उखाडकर उनके नीचे के कचन को माँजते रहते हैं। हमारे उन्नीसवी सदी के सन्तो और सुधारको ने भी हिन्दुत्व को माँजकर नये ढग से चमका दिया और इस प्रकार, नहा-धोकर जब वह ईसाइयत के मुकाविले मे जा

डटा तब इस संघर्ष से उसके भीतर एक तरह की जवानी भी आ गयी और वह एक बार फिर ताजा और नवीन दीखने लगा। रवीन्द्र की वाणी इसी परिमार्जित हिन्दुत्व की वाणी थी। एक पुराना पर्वत जैसे नवीन हो जाय और उसके कलेजे से कोई कलकल करनेवाला नया निर्झर फूट पडे ; एक पुराना पौधा जैसे ओस से भीगकर ताजा हो उठे और उसके मस्तक पर एक अनुपम फूल खिल पडे ; झाड-पोछकर स्वच्छ बनायी गयी, किसी सूखी कछार मे जैसे स्फटिक-सी उज्ज्वल कोई नयी धारा आ जाय, इसी प्रकार सन्तो और सुधारको के द्वारा पोषित और परिमार्जित हिन्दुत्व ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए रवीन्द्रनाथ को उत्पन्न किया। उनके विचारो के नीचे उपनिषदो का प्रबल आधार था, उनकी कल्पना कालिदास की स्मृति के साथ गलबाँही देकर चल रही थी, उनकी रस-ग्राहिणी शिराएँ विश्व के श्रेष्ठतम साहित्यकारो की हौजो से लगी हुई थी और उनके भीतर यह अरमान था कि मैं भारत की आत्मा मे युग-युग से गूँजनेवाली दिव्य और कोमल-से-कोमल भावनाओ को अभिनव वाणी मे नये चमत्कार से गा सकूँ। रवि बाबू की आकृति-प्रकृति और वेशभूषा मे जो बारीकी और कलामयता थी, वही बारीकी और कलामयता उनके हृदय के कण-कण मे परिव्याप्त थी और जब उनका कण्ठ फूटा, निष्पक्ष रसिको को लगा, मानो, स्वर्ग का कोई देवता गाते-गाते भटककर पृथ्वी पर चला आया है।

इस दिव्यता और कोमलता के साथ जब वे पश्चिम की ओर गये, वहाँवाले उन्हे देखकर चमत्कृत हो उठे। पश्चिम के बडे-से-बडे साहित्यकारो ने उन्हे मन-ही-मन अपने से श्रेष्ठ मान लिया और वे जहाँ गये वही उनका आदर उस प्रकार से किया गया जैसा कि मनुष्य नही, मनुष्यता के नेता का आदर किया जाता है।

रवीन्द्र की कविता मे जो दिव्यता, कोमलता और सांस्कृतिक पवित्रता व्याप्त थी, उससे चकित होकर कवि एजरा पाउण्ड ने, बडी ही विनयशीलता के साथ, कहा कि जब मैं टैगोर से विदा होता हूँ तक मुझे मन-ही-मन यह भान होने लगता है कि मैं उनकी तुलना मे वह असभ्य मनुष्य हूँ जो अभी खाल ही पहने हुए है और जिसके हाथ मे मात्र पत्थर की लाठी पडी हुई है। आयर्लैण्ड के उस मेधावी चिन्तक स्वर्गीय जार्ज रसल ने लिखा है कि जिसने रवीन्द्र को नही देखा वह इस बात को समझ ही नही सकता कि पूर्व-कालीन संसार मे मनुष्यो की आत्मा पर कवि की आत्मा का वैसा अभेद्य साम्राज्य क्यो था। हमारे वर्त्तमान लौहयुग मे अगर कविता की मर्यादा को कोई कायम रखे हुए है, तो वह रवीन्द्रनाथ हैं।

स्पष्ट ही, रवीन्द्रनाथ की इन प्रशस्तियो का कारण यह नही था कि वे योरोपवालो को अपना मालूम होते थे, वल्कि, यह कि योरोपवाले उनकी रचना और व्यक्तित्व मे उन चीजो की झलक पाते थे, जो उनके पास नही थी और जिनकी उन्हे सख्त तलाश थी।

रवीन्द्रनाथ ने योरोप के विवेक-तत्त्व को प्रसन्नता से ग्रहण किया था और वे उतने रैशनल थे जितना कि कोई भी अर्वाचीन मनुष्य हो सकता है। किन्तु, पश्चिमी जगत् की उद्दाम हिंसा-वृत्ति और भोगवाद को उन्होने कभी भी स्वीकार नही किया। यहाँ तक कि योरोप की कला-सम्बन्धी नवीन अनुभूतियाँ भी उन्हे अग्राह्य थी। वे एक शुद्ध भारतीय कवि की भाँति कला मे सत्य, शिव और सुन्दर के उपासक थे। किन्तु, पश्चिम का नया आदमी यह जानना नही चाहता कि चीज अच्छी या खूबसूरत हुई है या नही। वह तो सदैव यही पूछना चाहता है कि उसकी अभिव्यक्ति मे ताकत और जोर है या नही। पहले जिस परदे को सर-काना भी अभद्र समझा जाता था, अब उस परदे को भलीभाँति उघार देना ही प्रभविष्णुता का द्योतक हो गया है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ ने कला की इस प्रवृति को कभी भी प्रश्रय नही दिया।

रवीन्द्रनाथ योरोप का अनुकरण करके महान् नही हुए, बल्कि, समय ने ही उन्हे उत्पन्न किया और समय ने ही उन्हे महत्ता दी। भारत की सनातन आत्मा उस भाषा मे अपनी अभिव्यक्ति खोज रही थी जिस भाषा मे अर्वाचीन मनुष्य सोचने और समझने का आदी हो गया था। और इसी आवश्यकता से रवीन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ।

रवीन्द्रनाथ हमारे राष्ट्रीय कवि हैं, क्योकि उन्होने भारतवर्ष की आत्मा के गौरव की जैसी व्याख्या की वैसी पहले और किसी ने भी नही की थी। उनका महत्त्व इसलिए और भी बढ जाता है, क्योकि वे एक ऐसे समय मे उत्पन्न हुए जब कि भारतवर्ष को एक ऐसे व्याख्याता की आवश्यकता आन पडी थी, जिसकी वाणी को केवल स्वदेश ही नही, विदेश भी समझे। अपनी समस्त विविधताओ के बीच भारत की जो सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप रही है; अपने सारे उत्थान और पतन मे भारतवर्ष जो मानवात्मा की निरवच्छिन्नता से चिपटा रहा है, अपनी भौतिक समृद्धियो के ह्रास के बीच भी भारत जो दिव्यता की ओर से विमुख नही हुआ है, इन सारी विलक्षणताओ को रवि बाबू लिखने आये थे। रवीन्द्रनाथ किसी भी समय उत्पन्न होने पर भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा कर सकते थे। किन्तु, जिस समय वे उत्पन्न हुए वही उनका ठीक समय था। ऐसा लगता है, मानो, विरञ्चि की पोथी मे भारतवर्ष के भाग्योद्धार का जो लेखा पहले से ही लिखा हुआ था, उसके क्रम मे, इस विशाल एव गौरवशाली देश की आत्मा बहुत दिनो से रवीन्द्र-नाथ की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रत्येक युग, थोडी-बहुत मात्रा मे, अपने कवि और व्याख्याता की प्रतीक्षा किया करता है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ की प्रतीक्षा एक-दम ऐतिहासिक महत्त्व की थी और जब वे आये तब उन्होने अपना मिशन कुछ ऐसी विलक्षणता के साथ पूर्ण किया जैसा और कोई नही कर सकता था।

कभी-कभी मुझे ऐसा भी भान होता है कि जिस उदारता के कारण समस्त विश्व ने रवीन्द्रनाथ को अपने हृदय मे स्थान दिया, उसी उदारता ने, देश के भीतर, उनके लिए आलोचक पैदा किये। अगर वे जरा कम उदार हुए होते, अगर वे मनुष्य की पूर्णता का एक अश काटकर उसे देशभक्ति की वेदी पर उत्सर्ग कर पाते तो हमारी नजरो मे वे तनिक भी अभारतीय नही दीखते। किन्तु, यह सकीर्णता रवीन्द्रनाथ के लिए एक अजनबी चीज थी।

सस्कृति के सोपान पर उठते हुए वे जीवन के जिस शिखर पर जा पहुँचे थे, वहाँ देशभक्ति के लिए जीवन की पूर्णता का बलिदान असम्भव था। रवीन्द्रनाथ भलीभाँति जानते थे कि जो देशभक्ति उन गुणो के बलिदान पर जीना चाहती है, जो देशभक्ति से भी बडे हैं, वह भक्ति नही, तिरस्कार की पात्री है। और, यही वे उन सभी कवियो और सास्कृतिक नेताओं से महान् दीखते हैं, जो परिस्थितियो के तकाजो पर अपनी पूर्णता का एक अश काटकर, समय के चरणो पर उपहार चढ़ाने मे, बहुत अधिक नही, हिचकिचाते। जो देशभक्ति के नाम पर जीवन की पूर्णता को भूखो नही मारता, वह उस मनुष्य से महान् है, जिसका एकमात्र गुण उसकी सकीर्ण देशभक्ति है।

●

महर्षि अरविन्द की साहित्य-साधना

सन् १९२८ ई० मे, कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर होनेवाले युवक-सम्मेलन मे सुभाष बाबू ने युवको को परामर्श दिया था कि साबरमती और पाण्डिचेरी के खिलाफ विद्रोह करो। यह समरोत्सुक यौवन का रणोद्‌गार था। तो भी यह कितना सत्य है कि पाण्डिचेरी का आश्रम उसने बसाया जिसने देश को विद्रोह का पहला मंत्र दिया था और साबरमती का ऋषि भी आजीवन किसी-न-किसी रूप मे बागी ही रहा।

जब से श्री अरविन्द जनता के सामने से हटकर समाधि के कक्ष मे रहने लगे, देश में, उनके सम्बन्ध मे भाँति-भाँति की अटकलबाजियाँ चलने लगी। किसी ने कहा, यह सीधा वैराग्य है, अरविन्द अब ससार से ऊब गये है; वे अपने वैयक्तिक मोक्ष की खोज मे है और सामान्य मनुष्य के उद्धार की उन्हे अब कोई चिन्ता नही है। किसी ने कहा, नही, जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पहले वे हिंसक शस्त्रो का आश्रय लिये हुए थे, उसी की सिद्धि के निमित्त वे योग की तलवार तैयार कर रहे है: किसी दिन वे फिर से शरीर के अखाडे मे उतरेंगे, मगर, अब उनके हाथ मे लोहे का खड्ग नही, ज्योति की कृपाण होगी। कुछ ऐसे भी थे जिन्होने समझा, यह सब कुछ नही है; अरविन्द उसी शून्यता मे विलुप्त होने जा रहे हैं, जिसमे अनेक तेजस्वी आत्माएँ विलुप्त हो चुकी है तथा उनकी ओर आशा-भरी दृष्टि से देखने का कोई वैज्ञानिक आधार नही है। किन्तु, तब भी अपार मानवता उनकी ओर किसी रहस्यमयी आशा से देखती रही है। जिन्हे आश्रम के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त था, वे तो विशिष्ट कारणो से उनके प्रति विश्वासी रहे तथा अपने विश्वास की सुरभि ससार मे अन्यत्र भी फैलाते रहे। किन्तु, उनके सिवा, असंख्य लोग ऐसे भी थे जिनकी दलीले बडी ही सीधी-सादी, फिर भी यथेष्ट रूप से पुष्ट थी।

पाण्डिचेरी आश्रम मे श्री अरविन्द आकाश से नही टपके, वरन् उसमे उन्होने उन सारी उपलब्धियो को लेकर प्रवेश किया था जो नवीन भारत के बडे-से-बडे नागरिक के लिए संभव थी। इंग्लैंड के जिस सार्वजनिक स्कूल से उन्होने प्रवेशिका परीक्षा पास की थी, उसके प्रधान अध्यापक ने, बाद को चलकर, स्वीकार किया था कि अपने २५-३० वर्षों के कार्य-काल मे अरविन्द को छोड़कर मुझे और कोई छात्र नही मिला, जिसमे उतनी अधिक बौद्धिक क्षमता का वास रहा हो। इडियन सिविल सर्विस की परीक्षा उन्होने बडे ही गौरव के साथ पास की और अपनी चढती जवानी मे जब उन्होने 'वन्देमातरम्' का सम्पादन आरम्भ किया, तब ऐसा लगा, मानो, भारतीय विद्रोह का निर्दिष्ट देवता मंच पर प्रकट हो गया

हो। देश मे जो बड़े-बड़े नेता आज मौजूद हैं, उनमें से अधिकांश को देश-प्रेम की दीक्षा 'वन्देमातरम्' से मिली थी। जब श्री अरविन्द भारतीय राजनीति के क्षेत्र मे खडे थे, उस समय उनकी उम्र बहुत थोडी थी; और, साथ ही, उन दिनो भारतीय आकाश मे उनके ज्योतिष्पिण्ड ऐसे थे जिनकी ओर देखने मे आँखें चौंधिया जाती थी। किन्तु, ऐसे ही ज्योतिष्पिण्डो में से एक, विपिनचन्द्र पाल ने, १९०९ मे, लिखा था कि भारत के वर्त्तमान राष्ट्रीय नेताओ मे से अरविन्द, यद्यपि, उम्र मे सबसे छोटे हैं, किन्तु, शिक्षा-दीक्षा, शील, गुण और चरित्र मे, शायद, उनके जोड़ का कोई और नही है।

श्री अरविन्द की ये प्राप्तियाँ देश के मानस पर अपना अधिकार जमाये रहीं और सभी प्रकार की कानाफूसियों के बीच, लोग भीतर-ही-भीतर अपने-आप से पूछते रहे कि क्या इतना तेजस्वी पुरुष ससार से अलग जाकर जिस ध्येय की साधना मे लग गया है, वह भारत के राजनैतिक स्वातन्त्र्य की अपेक्षा अत्यन्त ही लघु और नगण्य है तथा अरविन्द के व्यक्तित्व मे मानवता का जो पथ-प्रदर्शक आलोक मिला था, वह अब सचमुच ही, एकान्त कक्ष मे ठण्ढा हो रहा है? दो एक बार, देश के नेताओ ने यह चेष्टा भी की कि अरविन्द अब बाहर आकर भारत का भाग्य-सूत्र अपने हाथ मे लें, किन्तु, वे अपने आसन से नही डिगे; क्योंकि वे जिस ध्येय को सिद्ध करने मे लगे हुए थे, वह मनुष्य की राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता-सा ही मूल्यवान् था।

राजनैतिक और आर्थिक दासता से मनुष्य को मुक्त करना कोई छोटा कार्य नही है; किन्तु, इससे कही महान् प्रयास तो वह है जिससे समग्र मानवता विकास के पथ पर एक नया कदम उठाती है। विकास का क्रम बडा ही धीमा और मद्धिम होता है। यह चढाई बहुत-कुछ चक्करदार सीढी के समान है। सोपान मे प्रगति के वृत्त बनते ही रहते हैं, किन्तु, कई सौ वर्षों के बाद जब हम अपनी प्रगति के वृत्त का अवलोकन करते हैं, तब हमे यह जानकर निराशा होती है कि सदियो का प्रयास व्यर्थ हो गया है और हम वही के वही हैं। हाँ, विकास की रफ्तार कभी-कभी व्यक्ति विशेष के कारण अधिक तेज हो जाती है। मानवता का रथ मन्द-मन्द तो चलता है, किन्तु, यदा-कदा, कोई महापुरुष आकर उसे अपनी तपस्या के एक ही धक्के से बहुत दूर तक ढकेल देता है। उस समय दीखने लगता है कि मनुष्यता, सचमुच ही, तेजी से चल रही है और इस क्षिप्र गति का समन्वित रूप हम उस महापुरुष के व्यक्तित्व में भली-भाँति देख लेते हैं। किन्तु, ऐसे महापुरुषो का अवतार अनेक सदियो अथवा सहस्राब्दियो के बाद होता है जब कि अनेक गुणो को लेकर ठहरी हुई मानवता इस धक्के को सँभालने के योग्य बनी होती है। महर्षि अरविन्द ने अपनी चालीस वर्ष की समाधि के द्वारा मनुष्यता को ऐसी ही प्रगति देने की चेष्टा की है, अतएव, यह कहना बहुत ही उपयुक्त है कि वे एक देश या

एक काल के नही, बल्कि, सम्पूर्ण मानवता के विकास के नेता हैं। उन्होने अपने आश्रमवासी शिष्यो और प्रशिष्यो को क्या दिया है, इस पर बहस की गुंजाइश हो सकती है, किन्तु, लिखित साहित्य के रूप मे उन्होने जो अवदान छोडा है, वह अद्भुत और अपार है। दुर्भाग्यवश, ससार मे ऐसे लोग बहुत होते हैं जो उसी को सब कुछ मान लेते है जिसे उन्होने प्राप्त कर लिया है और जो कुछ उनकी पहुँच से परे है, उसे वे कोरा धुआँ मानकर उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाते है। किन्तु, जो सत्य के पथ पर आरूढ है, उनमे दुराग्रह नही होता; जो भाविक और जिज्ञासु है, वे अपनी पहुँच से परे की भी तलाश मे रहते है और मनुष्यता की प्रगति के ये ही लोग सच्चे वाहक होते हैं। अरविन्द का साहित्य इन्ही वीर जिज्ञासुओ के निमित्त है; क्योकि वे ही उस साहित्य के मर्म तक कभी पहुँच सकेंगे और प्रगतिमती मानवता की वह पदचाप जो अरविन्द-साहित्य मे अकित है, उन्हे ही सुनायी पडेगी। इसका अर्थ यह नही है कि श्री अरविन्द का साहित्य धर्म के ढोग का परम्परागत चोगा पहने हुए हैं और वह सिर्फ उन्ही के लिए है जो समझने के पहले ही ईमान लाने को तैयार हैं, वरन् यह कि वह उन लोगो के लिए नही है जो कठिनाइयो से घबराते हैं, जो मनुष्यता की प्रगति की केवल एक ही राह को जानते हैं और जो मनुष्य के शरीर को छोडकर उसके और किसी अवयव का अस्तित्व ही नही मानते। किन्तु, अरविन्द-साहित्य अभी तुरन्त की कृति है; तिस पर भी वह ऐसे पुरुष की कृति नही है जिसके कदम सिर्फ वर्त्तमान की छाती पर रहे हो। श्री अरविन्द ने मानवता के, अब तक के, सम्पूर्ण विकास की तात्त्विक परीक्षा तथा उसकी वर्त्तमान-कालीन कठिनाइयो का विश्लेषण करके अपने ही ढग पर उसके भविष्य का मार्ग निर्धारित किया है। और भविष्य का यह निर्धारण उनके आशीर्वाद अथवा उनकी शुभकामना का ही द्योतक नही है, वरन्, वह मानवता का इतिहास और तर्क-सिद्ध मार्ग भी प्रमाणित हो सकता है।

एक सुधी ने लिखा है कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन अथवा Life Divine को पढ लेने के बाद और कुछ पढने की आवश्यकता नही रह जाती। किन्तु, मैंने देखा है कि इस अद्भुत ग्रन्थ को पढने तथा समझने के लिए उन सभी विद्याओ का कुछ-न-कुछ परिचय आवश्यक हैं जो मनुष्य को अतीत से विरासत के रूप मे मिली है अथवा जिनका वह शनैः-शनैः निर्माण कर रहा है। सोलह सौ पृष्ठो का यह विशाल ग्रन्थ ऐसा है जिसके भीतर उस पुरुष की चिन्ता विराजमान है जिसने पूर्व और पश्चिम की सभी विद्याओ को अपने भीतर आत्मसात् कर लिया था तथा जिसने लोक और परलोक को एकाकार करने के लिए देवोपम प्रयास किये थे। 'लाइफ डिवाइन' उनके लिए भी कठिन है जो अपने को दर्शन का पडित मानते है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य अपने भीतर निहित रहस्य के उद्घाटन के लिए हमारे मन की सम्पूर्ण एकाग्रता की अपेक्षा रखता है। यही वह ग्रन्थ है जिसमे

श्री अरविन्द का समस्त जीवन-दर्शन वर्णित है और जिसे अनेक वर्षव्यापी आयास के द्वारा समझनेवाले कुछ पडितो का कहना है कि आदिकाल से लेकर आज तक ससार के पडित, कवि, कोविद, दार्शनिक और रहस्यज्ञाता मनुष्यता को जहाँ तक पहुँचा सके थे, श्री अरविन्द 'लाइफ डिवाइन' के द्वारा उसे उससे आगे ले जा रहे है। 'लाइफ डिवाइन' का सारांश लिखने की क्षमता मुझमे तो नही है, फिर भी यह चर्चा यहाँ इसलिए उठानी पड रही है कि श्री अरविन्द की साहित्य-साधना को समझने मे उनके जीवन-दर्शन का यत्किंचित् अधूरा ज्ञान भी कुछ सहायक होगा।

जीवन-दर्शन

श्री अरविन्द के सम्पादकत्व मे निकलनेवाले "आर्य" * नामक मासिक पत्र के मुख पृष्ठ पर एक विज्ञप्ति छपा करती थी जिससे इस बात पर अच्छा प्रकाश पडता है कि राजनैतिक क्षेत्र को छोडकर वे आश्रम अथवा समाधि के जीवन की ओर क्यो आकृष्ट हुए थे। 'समस्त ज्ञान को एक विशाल मिश्रित रूप देना तथा पूर्व और पश्चिम मे मनुष्यता की विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियो के बीच सामजस्य और एकत्व लाना" यह "आर्य" का उद्देश्य था तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो साधन चुने गये थे उसके सम्बन्ध मे घोषणा की गयी थी कि "यह साधन एक ऐसी वास्तविकता पर आधारित होगा जिसमे हेतुवाद (Rationalism) तथा गोतीतवाद (Transcendentalism) का सम्यक् समन्वय होगा एव इस वास्तविकता मे बौद्धिक एव वैज्ञानिक अनुशासनो का सहजानुभूति (Intutive Experience) से पूरा मेल रखा जायेगा।" मैं ऐसे बहुत-से विद्वानो को जानता हूँ जो अध्यात्मवादियो से सिर्फ इसलिए बिदकते हैं; क्योकि उन्होने सुन रखा है कि महात्मा लोग बौद्धिकता एव हेतुवादी तर्कों की सत्ता को नही मानते। श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन ऐसे सभी लोगो की शकाओ का समाधान है, क्योकि, वे भी उसी धरातल से उठकर ऊपर गये हैं जिस धरातल पर नवीन विद्याओ के संस्कार के कारण हम कौए के समान सदैव चौकन्ना एव शका-ग्रस्त रहते हैं। उनकी साधना का लक्ष्य वैयक्तिक मुक्ति नही, प्रत्युत, सारी मनुष्यता के निमित्त इसी भूमडल पर दिव्य जीवन का उद्घाटन है। यह दिव्य जीवन ससार के लिए बिलकुल नयी कल्पना नही है। ऋषि-महर्षि, कवि और दार्शनिक अनन्त-काल से जीवन के भीतर इसकी खोज करते रहे हैं। यद्यपि अनेक अन्वेषियो ने निराश होकर यह कह दिया कि अमृत-तत्त्व हमारी किस्मत मे नही है, किन्तु, अनेक अन्य रहस्यवादियो ने बराबर सकेत दिया है कि किसी-न-किसी मार्ग से भूतल पर अमृत-तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। किसी-न-किसी प्रकार हम इसी

* यह पत्र १९२० के पूर्व निकलता था।

जीवन मे दिव्यता लाभ कर सकते हैं। कबीर ने जल मे मीन पियासी कहकर जिस सम्भावना की ओर सकेत किया है, उसी सम्भावना की झांकी एलिजावेथ बैरेट ब्राउनिंग की इन पक्तियो मे भी मिलती है—

Earth is crammed with heaven
And every common bush afire with God

दिव्य जीवन की ऐसी रहस्यात्मक झाँकियाँ साहित्य मे बहुत बार प्रकट हुई है और उनकी सख्या वर्त्तमान युग मे भी कम नही है।

आधुनिक युग की यह भी एक विशेषता है कि जहाँ हम भौतिकता को सत्य की आधारशिला मानकर चल रहे हैं, वहाँ हममे यह भी एहसास पैदा होता जा रहा है कि हम वस्तु की वाह्य परीक्षा से ही सतोष न करे। बल्कि, उसके भीतर डूबकर उन तत्त्वो को भी पकडे जो साधारण तर्क और सामान्य बुद्धि की पकड मे नही लाये जा सकते। यही कारण है कि आधुनिक साहित्य के उच्चतम शिखर पर रहस्यवाद की कुहेलिका मँडराने लगी है। यानी सामान्य बुद्धि पहले जहाँ तक थक कर बैठ जाती थी, अब वह वहाँ से भी सहजानुभूति के सहारे आगे बढने की चेष्टा कर रही है। और यह प्रवृत्ति सिर्फ उन्ही कवियो मे देखने को नही मिलती जो धार्मिक अथवा आस्तिक है। बल्कि, यह उनका भी प्रमुख लक्षण है जो नास्तिक रहे हैं अथवा जिन्होने खुलकर ईश्वरीय सत्ता मे अविश्वास प्रकट किया है। फ्रास का प्रसिद्ध कवि चार्ल्स वादेलेयर ने, जो एक प्रकार से आधुनिक अतिवादी चेतना का जन्मदाता कहा जाता है, स्थान-स्थान पर ऐसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। अपनी आत्मा को सम्वोधित करते हुए वह कहता है :—

इस घृणित जहर से दूर भागो,
उच्चता पर बहनेवाली वायु मे विचरण करके
अपने आपको पवित्र करो।
मेरे मन! उस ज्वाला का छक कर पान करो
जो शून्य मे अलौकिक एव पवित्र सुरा की तरह व्याप्त है।

मेलार्मे, समायें, हाउसमैन, वाल्ट ह्विटमैन, यीट्स और इलियट, प्राय: नवयुग के जो भी तगडे कवि हुए हैं, उनका धार्मिक विश्वास चाहे जैसा भी रहा हो, किन्तु, द्रव्य के विश्लेषण मे वे बुद्धि की रेखा से वहुत आगे जाते रहे हैं तथा उस सहजानुभूति से काम लेकर उन्होने अगोचर को छूने का प्रयास किया है जिसकी सत्ता को स्वीकार करने मे विज्ञान को वडी झिझक होती है और जिसे वह बुद्धि का ही एक रूप कहके वर्खास्त कर देना चाहता है। हाँ, यह दूसरी वात है कि अव विज्ञान भी एक सीमा पर पहुँचकर रहस्यात्मक सकेतो मे अपना समाधान उपस्थित करने लगा है।*

* जैसे आइन्स्टाइन का दिक्काल-सम्वन्धी सिद्धान्त

मानव-मस्तिष्क के इस रहस्यवादी परिपाक को श्री अरविन्द भली-भाँति समझते थे और जिस स्तर के इस किनारे पर पहुँचकर विश्व के कवि और दार्शनिक वर्षों से उकता रहे थे, उस स्तर का भली-भाँति निरीक्षण करके उन्होने विश्वास-पूर्वक अपने दिव्य जीवन के सिद्धान्त की स्थापना की है। "आर्य" के ही एक अंक मे उन्होने लिखा था कि "जिन आध्यात्मिक अनुभूतियो एव सामान्य सत्यो पर हमारा प्रयास आधारित है, वे हमारे सामने पहले से ही मौजूद थे। आवश्यकता इस बात की थी कि हम उन्हे बुद्धि की भाषा मे पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकें तथा उनके निष्कर्षों को शब्दो मे बाँध सकें। इसके लिए, लगातार सोचने की आवश्यकता थी, कई दिशाओं मे सूक्ष्म एवं अत्यन्त कठिन चिंतन अनिवार्य था। अतएव, तथ्य तक पहुँचने मे हमे जिस कठिनाई का सामना करना पडा, उसमे हमारे पाठको को भी भागीदार होना पडेगा।" जिस भाव-धारा का परिपाक 'लाइफ डिवाइन' मे हुआ है उसका आरम्भ 'आर्य' के ही अको मे हुआ था। 'आर्य' जुलाई १६१८ वाले अक मे अरविन्द ने लिखा था कि "मनुष्य को अपनी मानवीय सीमाओ का अतिक्रमण करके ईश्वरीय दिव्यता को प्राप्त करना पडेगा। उसे एक प्रकार की पार्थिव अमरता की अपेक्षा है। उसके भौतिक जीवन को भी ईश्वरीय दिव्यता से संवलित होना पडेगा।"

किन्तु, 'आर्य' के अंको मे जिन सिद्धान्तो का पूर्वाभास मिलता है, वे सिद्धात 'लाइफ डिवाइन' मे आकर भली-भाँति निरूपित हो गये। सहजानुभूति जिसका संकेत देती थी, बुद्धि जिसे भाँली-भाँति ग्रहण नही कर पाती थी, अति मानस के जोर से वह भाषा के कलेवर मे आ गया। 'लाइफ डिवाइन' सृष्टि और उस सर्वव्यापी सत्ता के वर्णन का नवीनतम प्रयास है, जिसका वर्णन ससार में अनन्त काल से होता आया है। यह ग्रन्थ हमे यह बतलाता है कि विकास की प्रक्रिया मे मनुष्य अभी किस स्तर तक पहुँच सका है, हमारा बाह्य रूप क्या है और आवरण के भीतर हम कैसे लगते हैं तथा जब विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा, उस समय, हम कहाँ और किस रूप मे होगे। 'लाइफ डिवाइन' के आरम्भ मे ही कहा गया है कि मनुष्य आनन्द की खोज मे है, वह किसी पूर्णता की ओर गतिशील है, वह निर्मल सत्य एव ऐसे आनन्द की तलाश मे है जिसमे दुख की तनिक भी कालिमा नही हो। उसे एक प्रकार की गोपन अमरता की खोज हैरान कर रही है। किन्तु, ससार मे दु:ख-ही-दु:ख हैं और मनुष्य अशान्त है। दु:खो से छुटकारा पाने के कौन उपाय हैं?* जडतावादियो का कहना है कि मनुष्य की

* यह जिज्ञासा सभी दर्शनो का मूल है। सिद्धार्थ ने इसी जिज्ञासा से विचलित होकर सन्यास लिया था और इसी जिज्ञासा ने मानवता के सभी नेताओ को बराबर आन्दोलित रखा और आज भी रख रही है। आज यूरोपीय साहित्य मे EXISTENCIALISM अथवा अस्तित्ववाद के नाम से जो नया दृष्टिकोण पनप रहा है, उसके मूल मे भी जिज्ञासा काम कर रही है।

यह गोपन तृषा ही मिथ्या है। इस जड संसार के आगे सब कुछ शून्य है। इसलिए, हमे यही रम कर आराम करना चाहिये। इसके विपरीत, वैरागियों का दल है, जो यह कहता है कि यह गोचर विश्व, असल मे, यात्रा है। इसमे उलझना जीवन के वास्तविक ध्येय से दूर पड जाना है। सत्य वह नही है जिसे हम देखते हैं, बल्कि, वह जो हमारी आँखो से ओझल है। अतएव, मनुष्य को चाहिये कि वह ससार का त्याग करके गोतीत तत्त्व की उपासना मे लग जाय; द्रव्य को छोडकर स्पिरिट की आराधना करे, रूप का तिरस्कार करके अरूप को भजे।

जडतावादी कहता है कि दिव्य जीवन की कल्पना निरी कल्पना ही है। यह कभी पूरी नही होगी। अतएव, जब तक जीवित हो, पृथ्वी को स्वर्ग मान कर जियो और इसके आनन्दो का उपभोग करो। वैरागी कहता है कि यह पृथ्वी स्वर्ग बन ही नही सकती। स्वर्ग तो तब मिलेगा, जब हम मिट्टी के घेरे से बाहर चले जायेंगे। मगर, इन दो विरोधी समाधानो के होते हुए भी जीवन के अन्तराल मे एक अनवरत प्रवाह चल रहा है कि हमे इसी जीवन मे स्वर्ग चाहिए जिसे पकड-कर हम अपने साथ रख सके। हम आत्मा की सत्ता की उपेक्षा नही कर सकते, क्योकि हमारे अस्तित्व की समस्त तिमिराच्छन्न धारा ही हमारी इस बात का खण्डन करती है कि विश्व मे अन्तर्हित किसी सर्वव्यापी सत्य की सत्ता नही है। दूसरी ओर, वैरागियो के आत्महनन की प्रक्रिया का भी हम समर्थन नही कर सकते, क्योकि वह दु.खदायी और अत्यन्त कठोर मार्ग है, साथ ही, सफलता के बदले उससे हमे भयकर परिणाम भी भोगने पड सकते है। इनमे से दोनो ही मार्ग एकागी पाये गये हैं और मानवता किसी ऐसे मार्ग के लिए तडपती रही है जिसमे समन्वय का गहरा पुट हो, जिसमे भोग और वैराग्य, दोनो, के लिए स्थान हो, जिसमे मिट्टी की गध और आकाश की सुरभि का सतुलित योग हो तथा जो सत्य के किले तक खूब प्रशस्त होकर जा सके।

श्री अरविन्द ने मनुष्यता को व्यथित करनेवाली इस युगव्यापिनी पीडा का जो निदान और समाधान दिया है, वह बडा ही विलक्षण है। वे मानते हैं कि आधुनिक जडतावादी दृष्टिकोण ने जिज्ञासा से पीडित मनुष्य की अनेक शकाओ का समाधान करके उसके जीवन के निचले स्तर-सम्बन्धी ज्ञान का भडार यथेष्ट रूप से बढा दिया है। इसी प्रकार, वैरागियो की वृत्ति ने मनुष्य को ससार के मोह से मुक्त होकर अज्ञात की खोज मे निकल पडने का साहस प्रदान किया एव आत्मा की सतह की झाँकी लेने मे उसकी सहायता की। किन्तु, ये दोनो ही मार्ग सीमित और अपूर्ण हैं। सच तो यह है कि आत्मा का स्वतत्र होकर फैलने का दावा उतना ही उचित है, जितना द्रव्य का यह आग्रह कि वह इस प्रकार का साँचा और आधार बनेगा। आधिभौतिक दृष्टिकोण और वैराग्यसाधना, ये दोनों

ही एक ही वास्तविकता ये दो विरोधी पहलू हैं। किन्तु, सर्वव्यापी सत्य तो वह है जो इन दोनो को अपने मे समेट कर भी इन दोनो से बहुत आगे तक जाता है। फिर तो इन दोनों मे से किसी का भी उसमे कोई अलग अस्तित्व नही रह जाता और वह सत्य अपने ही आलोक मे अप्रतिम होकर चमकने लगता है। संक्षेप मे, यही वह आधार है जिस पर दिव्य जीवन का महल खडा हो सकता है, वह महल जिसमें सत्य, शिव और सुन्दर, तीनो ही, अपने-अपने संतुलित भाग को पाकर सतुष्ट होगे तथा इसी समन्वय के कारण श्री अरविन्द के पास जडतावादी एवं वैरागी, दोनो ही प्रकार के लोगो के लिए कुछ देय संदेश हैं।

इस प्रकार, सर्वव्यापी सत्य वह है जिसके एक छोर पर द्रव्य है और दूसरे छोर पर आत्मा। इस दूरी को श्री अरविन्द ने आठ सोपानो मे विभक्त किया है। सबसे निचला सोपान द्रव्य (Matter) है; उसके ऊपर, क्रमानुसार, जीवन (Life), उपचेतन (Psyche), मानस (Mind) अतिमानस (Super-mind), आनन्द (Bliss) चेतनाशक्ति (Consciousness-force) और अस्तित्व (Existe-nce) का स्थान है। अस्तित्व का ही नाम सच्चिदानन्द अथवा शुद्ध अस्तित्व है। इस शुद्ध अस्तित्व मे ही इच्छा और क्रिया-शक्तियो का एकत्र वास है एव यही आनन्द का चरम विन्दु है।

महर्षि ने इनमे से प्रत्येक नाम के भीतर एक निश्चित अर्थ रखा है तथा यह बताया है कि मनोविज्ञान के लोक मे चेतना इन सब स्तरो पर भ्रमण करती है। दिव्य-जीवन-सबधी उनके दर्शन का यह भाग अत्यत दुरूह है और उसकी गुत्थी, कदाचित्, गुरुमुख से ही सुलझायी जा सकती है। मनुष्य के अगले विकास का लक्ष्य इसी अतिमानस के स्तर तक पहुँचना है, क्योंकि यही मानस निर्मल ज्ञान के मूल-उत्स के आमने-सामने पडता है। यह मानस सामान्य मस्तिष्क एव बौद्धिक विचिकित्सा के बिन्दु से बहुत ऊपर स्थित है तथा सामान्य मस्तिष्क एवं अतिमानस के बीच अज्ञानता की जो दीवार खडी है, उसे तोडने के पश्चात् ही मनुष्य अपने अतिमानस के लोक मे प्रवेश पा सकता है।

बुद्धिवादी होते हुए भी श्री अरविन्द सामान्य मस्तिष्क मे विश्वास नही करते। "लाइफ डिवाइन" मे वे कहते हैं कि "मस्तिष्क उसका नाम है जो कुछ नही जानता है, जो जानने की कोशिश तो करता है, किन्तु, असल मे, कुछ जान नही पाता। उसे जो कुछ दिखलायी पडता है वह धूमिल दर्पण मे पडनेवाली धुँधली छाया के समान है। तब भी इस शक्ति का एक उपयोग यह है कि वह सासारिक व्यवहार के प्रसग मे सार्वभौम सत्य की एक प्रकार की सीमित व्याख्या कर सकती है। किन्तु, सार्वभौमिक सत्य का न तो उसे परिचय प्राप्त है और न वह उसका पथ-प्रदर्शन ही कर सकती है।" "थाट्स ऐण्ड ग्लिम्प्सेज" मे भी उन्होने, व्याजान्तर से इसी बात को यह कहके दुहराया है कि "तर्क सहायक था,

किन्तु तर्क ही बाधक भी है।" किन्तु, उनका विश्वास है कि सामान्य मस्तिष्क के स्तर पर मनुष्य अब अधिक काल तक टिकनेवाला नही है। विकास की अगली लहर पर चढकर मनुष्य अज्ञानता के प्राचीर को तोड डालेगा और सामान्य मस्तिष्क के स्तर से उछलकर वह अतिमानस के चेतना-स्तर पर पहुँच जायेगा, जहाँ उसे आभासपूर्वक कुछ जानने की आवश्यकता नही रह जायगी, जहाँ वह उस सर्वज्ञता का स्वामी हो जायेगा जो अतिमानस वाले स्तर से नि सृत होती है। अब उस अवस्था के आते ही संसार से वैषम्य दूर हो जायेगा, द्वैत की भावना विनष्ट हो जायगी और मनुष्य इस विधि-प्रपच के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता हो जायेगा। यही मनुष्य श्री अरविन्द की कल्पना का अतिमानव होगा जिसके अवतार के लिए उन्होने चालीस वर्षो तक चिन्तन और समाधि की है।

काव्य-सम्बन्धी विचार

साहित्य के लिए यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि महर्षि अरविन्द ने अपने सिद्धान्तो को केवल दार्शनिक रूप से ही अभिव्यक्त नही किया, बल्कि उनका तत्त्व कविताओ मे भी उपस्थित किया है। यही नही, डाक्टर कजिन्स की New ways in English literature नामक पुस्तक की आलोचना के बहाने "आर्य" मे उन्होने जो लेख-माला शुरू की, वह बढते-बढते उनके काव्य-सम्बन्धी अनेक विचारो और उद्‌भावनाओ की अभिव्यक्ति हो गयी। इस लेख-माला के बडे-बडे पैतीस अध्याय है और, अनुमानतः, रायल साइज के तीन-चार सौ पृष्ठो से कम मे वह नही समा सकती है। इस लेख-माला का शीर्षक "कविता का भविष्य" नही होकर "भविष्य की कविता" अर्थात् The future Poetry है। यह लेख-माला एक तरह से अरविन्द की काव्य-सम्बन्धी धारणाओ का सक्षिप्त विश्व-कोष है और उसमे अँगरेजी कविता का इतिहास, कला की व्याख्या, अँगरेजी के प्रख्यात कवियो की आलोचनाएँ, कविता के भविष्य के सम्बन्ध मे विचार, लय और गति, शैली और विषय, काव्यात्मक सत्य का सूर्य, कविता का रूप और उसकी आत्मा, आदि विषयो का अत्यन्त मार्मिक और प्रेरक विवेचन किया गया है। इन निबन्धो की भाषा, उनकी शैली की गम्भीर भगिमा और उनमे व्यक्त अतलस्पर्शी विचार ऐसे हैं, जिन्हें देखकर सहसा यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अरविन्द विकास के नेता हैं अथवा साहित्य के। क्योकि जहाँ तक मेरी पहुँच है, मैंने काव्यालोचना के इससे अधिक प्रकाशमान रूप और कही नही देखे और जब मैं यह कहता हूँ, तब उस उक्ति के घेरे मे उन अनेक आलोचको के नाम आ जाते हैं, जो प्राचीन अथवा नवीन आलोचनाओ के निर्माता कहे जाते है तथा जिनके विचारो के प्रकाश मे कविता नयी राह पकडती आयी है और आलोचना के मान-दण्डो मे परिवर्त्तन होता आया है। बडे ही खेद का विषय है कि ये बहुमूल्य निबन्ध अभी तक पुस्तकाकार मे प्रकाशित नही किये जा सके हैं। तब भी मेरा

विश्वास है कि जिस दिन यह ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित होगा, उस दिन साहित्य में एक नयी जागति का आरम्भ होगा और उन लोगों को प्रकाश का एक अप्रतिम प्रस्रवण हाथ लग जायगा जो साहित्य के नये मानदण्डो की खोज के लिए पच्छिम के प्रकाण्ड आलोचको की रचना-वीथि मे घूम रहे हैं।

ऊपर जीवन-दर्शन की व्याख्यावाले प्रसंग मे यह सकेतित किया जा चुका है कि अरविन्द मनुष्य के व्यक्तित्व मे दिव्यता भरने की कल्पना किस विलक्षणता से करते हैं। जब यह दिव्य मनुष्य अवतरित होगा, तब उसके व्यक्तित्व की आभा उसके परिवेष्टन को भी प्रभावित करेगी और कला और काव्य भी उसके आलोक मे नवीन रूप ग्रहण करेंगे। अतएव, जिस रूप मे अरविन्द भावी मनुष्य की कल्पना करते हैं, उसी के अनुरूप कल्पना से उन्होने भावी काव्य को भी मण्डित किया है और जिस प्रकार, अरविन्द की कल्पना के अति-मानव की पृष्ठभूमि बहुत दिनो से प्रस्तुत होती आ रही है, उसी प्रकार, उनकी कल्पना की भावी कविता के चिह्न भी विश्व-साहित्य मे यत्र-तत्र मिलने लगे है।

भावुकता की दूब से उठकर धर्म की डाल पर, धर्म की डाल से उठकर विचार के शिखर पर कविता ने अब तक, क्रम-क्रम से, तीन नीड बसाये हैं; और प्रत्येक नीड़ मे बैठकर उसने अपने समकालीन समाज पर अमृत उँडेला है। फिर भी यह मानना पडेगा कि ये तीनो ही नीड कविता की ऊर्ध्वमुखी यात्रा के तीन सोपान रहे हैं और प्रत्येक सोपान अपने समय मे इसलिए बना चूँकि तत्कालीन मानवीय चेतना उसी सोपान पर कविता मे निखार पा सकती थी।

बहुत काल से कवियो के सम्बन्ध मे यह बात पूछी जाती रही है कि वे कविता रचते समय चैतन्य रहते हैं अथवा कोई अज्ञात शक्ति उनसे मनमाने ढंग पर काम लेती रहती है। कुछ लोगो का कहना है कि प्रतिभासम्पन्न लोगो की पहचान यह है कि वे जो कुछ करते हैं, उसका उन्हे सम्यक् ज्ञान नहीं रहता। कुछ दूसरे लोग कहते है कि परिश्रम से कभी भी क्लान्त नही होनेवाला मनुष्य ही प्रतिभाशाली है। किन्तु, अगर विश्लेषणपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि प्रतिभाशाली व्यक्ति की विशेषता यह होती है कि वह एक ही समय मे कई स्तरो पर जागरूक और चैतन्य रहता है। विशेषतः, कवि के सम्बन्ध मे तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह एक तो उस स्तर पर जागरूक है जिससे उसकी प्रेरणा आ रही है और दूसरे, उस स्तर पर भी, जिस पर बैठकर वह उस प्रेरणा को लिपिबद्ध करता है।

साहित्य मे पूर्ण सफलता के लिए इन दोनो ही स्तरों पर जाग्रत रहना अनिवार्य है, क्योकि प्रेरणा की धारा का कलकल सुने बिना हम कुछ लिख नही सकते और अगर उस ध्वनि को अंकित करनेवाला हमारा यन्त्र कुछ कम जागरूक अथवा अचैतन्य हो तो, स्पष्ट ही, हमारा अंकण असमर्थ होगा। कविकर्म की इसी

कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए सुधी आलोचक श्री नलिनीकान्त गुप्त ने कहा है कि श्रेष्ठ कलाकार जागरूक और अजागरूक मे से कुछ भी नही होकर एक शब्द मे "अतिजागरूक" होता है। किन्तु, ऊपर के स्तर का यह जागरण जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय, चारो अवस्थाओ मे कायम रह सकता है। जो समाधि योगी की होती है, उसी प्रकार की समाधि कवि की भी होती है। क्योकि रहस्यवादी कवि जिस मुद्रा मे जाकर अगोचर को छूने का प्रयास करता है, वह बहुत कुछ वही मुद्रा है जिस मुद्रा मे देर तक रहकर योगी चराचर और चेतन-अचेतन, सभी जीवो और वस्तुओ के भीतर निहित चेतना के साथ एकता का अनुभव करता है। काव्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि कवि ऊपर के स्तर पर प्रेरणा की कलकल ध्वनि से अत्यन्त एकाग्र होकर अपना कान लगाये रहे और निचले स्तर पर पूरी तटस्थता और ईमानदारी के साथ उस ध्वनि को सुयोग्य शब्दो मे लिपिबद्ध करता जाय। यह कवि और कारीगर के अपने-अपने स्तर पर पूर्ण रूप से जागरूक रहने का सवाल है। मगर, इसमे बाधाएँ आ सकती हैं। कभी तो ऐसा होता है कि प्रेरणा के तूफ़ान मे कवि खुद पत्तो-सा उडने लगता है और उसकी कारीगरी ढीली पड जाती है। तथा कभी कारीगर ही अपने रगो पर इतना आसक्त हो जाता है कि कवि की समाधि मे शिथिलता आ जाती है। वस्तुतः सच्चा कवि कोई योगी ही हो सकता है, जो दोनो धरातलो पर जागरूक एव साथ ही तटस्थ रह सके। प्राचीन काव्य से जो शिक्षा मिलती है और मानवीय चेतना का जैसा विकास हो रहा है, उसे देखते हुए यह उचित दीखता है कि अभिनव कवि योगी की वृत्ति को अपनाये और दो धरातलो पर समान रूप से चैतन्य रहकर अपनी सामग्री और यत्र दोनो पर नियत्रण रखे, अपने पूर्वजो के समान काव्य-प्रेरणा की उद्दाम लहर में नही बहकर क्षण-क्षण यह ध्यान रखे कि जो कुछ वह लिख रहा है, वह ठीक वही चीज है, या नही, जो उसकी प्रेरणा से आ रही है।

जिसे मैंने भावुकता का सोपान कहा है, वह अरविन्द के अनुसार कविता का आदि सोपान था, जब कि मनुष्य ने ज्ञान का मजा नही चखा था; जब कि कविगण यह नही जानते थे कि वे क्यो और कैसे लिखते हैं; जब कि वे सिर्फ़ वायु के स्पर्श का अनुभव करते थे, उसके उद्गम का उन्हे पता नही था। यह विश्व-काव्य के उस भाग का जिक्र है जो क्लासिक के पहले रचा गया था। क्लासिक का काल तब आया, जब मनुष्य इस कोरी भावुकता से आगे बढा और सकल्प के द्वारा उसने केवल स्थूल वस्तु ही नही, सूक्ष्म मन को भी प्रभावित करना आरम्भ किया। इसी काल मे धर्म काव्य का आधार हुआ और कविता उन अगणित सिद्धान्तों, आख्यायिकाओ और कथाओ का आश्रय लेकर आगे बढी जो धर्म के किसी-न-किसी रूप की अभिव्यक्ति करती थी। क्लासिक के बाद जो काल आया, उसमे कविता के मेरुदण्ड भी विचार और विज्ञान बन गये। यही हमारा

आधुनिक काल है और जिस प्रकार, मानस के स्तर पर ठहरा हुआ मनुष्य अतिमानस में प्रवेश पाकर दिव्य बननेवाला है, उसी प्रकार, उसकी कविता भी विचार से ऊपर उठकर सहजानुभूति की प्रचुरता का उपयोग करके दिव्य और सूक्ष्म रूप धारण करनेवाली है।

यदि आदि काल का कवि केवल भावुक, एवं क्लासिक युग का कवि सकल्प और ईषत् आत्म-चेतना से युक्त था; तो आज का कवि आत्म-चेतना के आधिक्य से पीड़ित है। उसकी बौद्धिकता इतनी बढ़ी हुई है कि वह दो स्तरों पर जागरूक रहकर केवल रचना ही करना नहीं चाहता, बल्कि, रचना करते समय वह उसके दोष और गुण एवं समाज पर होनेवाली उसकी प्रतिक्रिया और प्रभाव का भी मूल्य आँकता जाता है। आज के युग में आदिकालीन, अचेतन कलाकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज कलाकार भी वैज्ञानिक हो रहा है। वह जब कोई रचना करता है, तब वह सिर्फ यही नहीं सोचता कि वह क्या रच रहा है, बल्कि उसकी दृष्टि इस बात पर भी रहती है कि वह रचना किस प्रकार से की जा रही है। स्पष्ट है, इस परिवर्त्तन के कारण रचना की स्वाभाविकता में कमी आयी है, उद्गारों की वह गरिमा क्षीण हो रही है जो पहले थी। किन्तु, इस बात को कोई रोक नहीं सकता। यह बौद्धिक युग का अनिवार्य धर्म है। हाँ, इसका समाधान खोजा जा सकता है और इस समाधान का स्पष्ट आभास हमें महर्षि अरविन्द के "भावी कविता" नामक निबंध में मिलता है।

"भावी कविता" नामक निबन्ध-माला में "काव्यात्मक सत्य का सूर्य" शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत महर्षि ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि कविता की आत्मा से हम किस प्रकार के सत्य की अपेक्षा रखते हैं। सत्य के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ इतनी विभिन्न हैं कि इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ करना अत्यन्त कठिन है। फिर अनन्त काल से यह प्रवाद भी चला आ रहा है कि कवि सत्य नहीं, सौन्दर्य का पुजारी होता है। वह कल्पना का प्रेमी होता है; जो कल्पना सत्य की ही उड्डीयमती दासी और सरस्वती की ज्योतिर्मयी दूतिका है। किन्तु, तब भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि कला प्रकृति की अनुकृति मात्र है। असल में, कला में जो प्रेषणीयता होती है, इसके सहारे कवि उस सत्य का हमें दर्शन कराता है, जो वस्तुओं के बाह्य रूप के भीतर प्रच्छन्न है। इसके ठीक विपरीत, यह सिद्धान्त है जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि जीवन की ठोस वास्तविकता ही कविता की सामग्री है। जीवन के प्रति पूरी वफादारी निभाने के लिए यह आवश्यक है कि कवि कविता में लय का ऐसा प्रवाह भरे, जो जीवन की वास्तविक मुद्राओं की सच्ची प्रतिध्वनि का प्रतिरूप हो; जीवन की पद-चाप जिस रूप में ध्वनित होती है, कविता की लय को उसका पूरा जवाब होना चाहिये। ऐसी कविताओं में सौन्दर्य नहीं, शक्ति प्रधान होती है। ऐसी कविताएँ

जीवन का चित्रण ही नही करती, बल्कि, उसके प्रति हमारे हृदय के आवेगो को भी तीव्र कर देती है। और तब वह तर्कजनित धारणा आती है जिसके अधीन तर्क-सम्मत किसी खास कल्पना अथवा रुचि के सत्य को कविता की सामग्री मान लेते हैं। इस धारणा के कितने ही पहलू हैं, जिन्हे हम कविता और दर्शन, कविता और जीवन, कविता और जीवन की आलोचना, आदि विभिन्न सम्बन्धो के नाम से अभिव्यक्त करते हैं।

किन्तु, महर्षि कहते है कि इनमे से किसी भी सत्य के साथ कविता का कोई लगाव नही है। अपने अतिम विश्लेषण मे, सत्य एक अनन्त शक्ति के रूप में सामने आता है। कल्पना का सत्य से कोई विरोध नही हो सकता, क्योकि वह तो सत्य की ही एक रंगीन झलक-भर है। कविता, असल मे, वही सफल होती है जो सत्य की इस अनन्तता की झाँकी हमे सौन्दर्य मे लपेटकर दिखला सके। कविता का सत्य दर्शन, विज्ञान अथवा धर्म का सत्य नही है। कवि जब अपने धार्मिक अथवा किसी प्रकार के विश्वास के लिए छन्दो मे दलीले गूँथने लगता है, तभी वह काव्य के अत्यन्त आवश्यक नियम को भग करने का अपराधी हो जाता है। कविता स्वय एक स्वतंत्र धर्म और विश्वास है तथा कवि जब महासरस्वती के सम्मुख उपस्थित होता है, तब उसे अपनी अन्य सारी मानसिक पोशाको को उतार देना चाहिये। और तब भी यह सत्य है कि दार्शनिक, धार्मिक और वैज्ञानिक की तरह कवि भी उसी वस्तु के सार को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकता है, जिसे दार्शनिक और वैज्ञानिक अभिव्यक्त करते हैं, बशर्ते कि उसमे दार्शनिक, वैज्ञानिक एव धार्मिक सत्यो को काव्य के सत्य मे परिणत करने की क्षमता विद्यमान हो। काव्यात्मक सत्य को अन्य सत्यो से बिलकुल विभक्त करके देखनेवाली इस दृष्टि को महर्षि ने अत्यन्त प्रमुखता दी है, और यह उचित भी है, क्योकि, यद्यपि, इस विभिन्नता के औचित्य को सब लोग स्वीकार करते है, किन्तु, उसका पालन अब तक विरले ही लोगो ने किया है। आज की आलोचनाओ मे इस विभिन्नता पर खूब जोर देने की आवश्यकता है; क्योकि आगामी युगो की कविता दर्शन, धर्म और विज्ञान को मथे बिना अपना लक्ष्य सिद्ध नही कर पायेगी तथा इस मन्थन के बावजूद उसे इन सबसे भिन्न अपनी अलग दृष्टि का विकास करना होगा और वस्तुओ के भीतर पैठकर मूल रहस्य को बेधनेवाली अपनी पतली निगाह को और भी तेज बनाना होगा। दार्शनिक शुष्क तर्कों के सूखे प्रकाश में काम करता है और सत्य के भीतर प्रच्छन्न बौद्धिक सामग्रियो का विश्लेषण उसका प्रधान कर्म है। वैज्ञानिक भी बौद्धिक तर्कों के सहारे चलता है तथा अपने गणित की नोक से परदो को फाडकर वह अपनी पैनी दृष्टि से तिमिराच्छन्न सत्य को ऊपर ले आता है। किन्तु, कवि का मन गतिमान जीवन की पूर्णता का उसकी लय मे दर्शन करता है; वह वस्तुओ के चमत्कारी यन्त्र का नही, उसमे छिपी हुई आत्मा का ग्राहक है।

It sees at once in a flood of coloured light, in a moved experience, in an ecstasy of the coming of the word, in Splendours of forms, in a Spontaneous leaping out of inspired idea upon idea

कविता का उद्देश्य किसी भी प्रकार के सत्य की शिक्षा देना नही है ; सच पूछिये तो शिक्षा देने का कोई भी कार्य कविता नही करती ; ज्ञान की साधना, धर्म की सेवा अथवा बडे-से-बडे नैतिक उद्देश्य की आराधना मे से कोई भी क्रिया कविता का उद्देश्य नही है। कवि का काम केवल शब्दों मे सौन्दर्य को गूँथकर निर्मल आनन्द की सृष्टि करना है। कविता हमे प्रेरणाभरी दृष्टि देती है, वह गतिमान जीवन का हमे स्पर्श कराती है और अन्त मे वह इस स्पर्श के द्वारा हम मे कम्पन और उल्लास भरती है, किन्तु, यह कम्पन और उल्लास केवल रोम-कूपो में ही नही, हमारी आत्मा के गुह्यतम स्तर पर होना चाहिये।

अग्रेजी-कविता के ठीक पिछले युग पर दृष्टिपात करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है कि कविता का यह युग बौद्धिकता के अतिसेवन का काल था। १९वी शताब्दी के मध्य के अग्रेजी-कवि विचारो के कवि थे तथा उनकी प्रेरणा समस्याओ पर चिन्तन करने से आती थी। इगलैण्ड और अमेरिका के तत्कालीन महाकवियो ने बडी ही आवेशमयी भाषा मे जीवन की आलोचना की है ; दर्शन की व्याख्या और नैतिक विश्लेषण के द्वारा उन्होने मनुष्य को बडे-बडे उपदेश दिये हैं और इसमें कोई सदेह नही कि उनकी रचनाएँ बडी ही सुन्दर एवं सुसस्कृत उतरी हैं। ऐसा लगता है, मानो, ठोस जीवन को छोडकर उनके सामने कोई और विषय ही नही था। किन्तु, यह सब होते हुए भी वे जीवन के सफल प्रतिनिधि नही बन सके और न उच्च काव्यात्मकता के साथ वे जीवन की आलोचना ही कर सके ; उनमे वस्तुओ की तह मे पैठकर देखनेवाली दिव्य दृष्टि नहीं मिलती, ऐसा भासित नही होता है कि वे सत्य के किसी गम्भीर एव महान् दृश्य से आन्दोलित होकर ऊपर उठ सके हैं। इन कवियो की कविताओ का वातावरण बोझिल दीखता है और ऐसा लगता है, मानो, कोई अधिक शक्तिशालिनी रचनात्मक प्रवृत्ति उसके भीतर से जन्म लेने की चेष्टा मे बेचैन हो। आगे जो कवि आये उन्हे जीवन का कुछ अधिक सामीप्य प्राप्त था, किन्तु उन्हे भी इस वातावरण के भार के नीचे ही काम करना पडा और उनकी साँसो मे भी जगह-जगह पर अप्रिय गाँठे नजर आती हैं। यह कविता के विकास का गतिरोध है जिसके निराकरण की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिये। मानवीय आत्मा की पुकार है कि नयी जमीन पर जो नया जमाना उतर रहा है, उसमे, केवल कविता मे नही, बल्कि, विचार और आत्मा मे भी तर्क और आलोचनात्मक बुद्धि के अत्याचार मे कमी की जानी चाहिये। इस अत्याचार को हटाये बिना हम जीवन की शक्ति और जिन्दगी की वफादारी के पास फिर से लौट नही सकेंगे।

'विजन' अथवा अदृश्य को देखने की क्षमता कवि की मुख्य शक्ति है। प्राचीन काल में कवि का अर्थ ही द्रष्टा एवं सत्य को प्रत्यक्ष करके दिखलानेवाला समझा जाता था। कवि हमारे भीतर एक आन्तरिक लोचन का उद्घाटन करता है। किन्तु, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी अपनी आन्तरिक दृष्टि भली-भाँति पुष्ट और विशाल हो। बड़े-से-बड़े कवियों में पारस्परिक भेद चाहे जो भी रहे हों, किन्तु, एक बात में वे सब समान थे कि उनमें से प्रत्येक में किसी-न-किसी मात्रा में सहज ज्ञान (Intuition) के बल पर उस दृश्य को देखने की क्षमता विद्यमान थी जो न तो चर्मचक्षुओं से देखा जा सकता है और न जिसकी तर्क की भाषा में व्याख्या ही की जा सकती है। किन्तु, आज के युग में काव्य में विचारशीलता का मूल्य अत्यधिक वृद्धि पर है। हम जिस युग में जी रहे हैं, वह बौद्धिकता से पीड़ित युग है। उसकी प्रजाएँ जीवन और विश्व को लेकर अनेक विचारों में उलझी हुई हैं और यह भी सच है कि इस उलझन से मनुष्य जो संघर्ष कर रहा है, उसके परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि का भण्डार दिनोदिन विशाल होता जा रहा है। यह इस बौद्धिकता का ही प्रभाव है कि हम अपने कवियों से भी यही अपेक्षा रखने लगे हैं कि उनके पास हमारी जिज्ञासा-पीड़ित बुद्धि के लिए कोई सन्देश है या नहीं। यही कारण है कि आलोचनाओं में "कवि का दर्शन" जैसी चर्चा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। यह ठीक है कि एक अर्थ में कवि भी द्रष्टा और दार्शनिक होता है। किन्तु, यह आवश्यक नहीं कि उसका दर्शन बौद्धिक हो अथवा उसके पास मानवता के लिए कोई बुद्धिगम्य सन्देश हो।

सन्देश या उपदेश देने की प्रवृत्ति संसार में नयी नहीं है। और पिछले युगों में तो सत्यकाव्य एवं उपदेशवृत्ति के बीच का भेद लोगों पर भलीभाँति प्रकट भी नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त शक्तिशाली कवियों ने भी कभी-कभी दर्शन की सरणी को संगीत में बाँधना शुरू किया ; यही नहीं, बल्कि, हेसीड और वर्जिल जैसे महाकवियों ने भी कृषि के नियमों को पद्यों में लिखने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलायी। लेकिन, इसका जो नतीजा निकला वह बाद की पीढ़ियों के लिए एक चेतावनी है। शायद, भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ ऐसे प्रयास, गीता और उपनिषद् के रूप में एक-दो बार सफल हो सके। किन्तु, इसे तो हम एक प्रकार के घुणाक्षर न्याय का ही परिणाम कहेंगे, अन्यथा विचारों और उपदेशों के लिए कविता का उपयोग करना एक भयंकर प्रयोग है। उपदेश की प्रवृत्ति बाद के साहित्य में भी बढ़ी है और आज भी वह न्यून नहीं हो पायी है। सच पूछिये तो आर्नाल्ड ने कविता को जो जीवन की व्याख्या कहा, श्री अरविन्द के अनुसार, कविता की उससे अधिक भयानक परिभाषा हो नहीं सकती। काव्य में बौद्धिक पीड़ा के और भी कितने ही लक्षण वर्तमान हैं, जिन्हें हम लोग भलीभाँति देख रहे हैं। इसलिए, इस बात पर बार-बार जोर देना

आवश्यक है कि कविता की अपनी शक्ति का निवास उसकी अदृश्य को दृश्य बनानेवाली क्षमता मे है, बुद्धि के कौशल अथवा प्राचुर्य से नही। कविता की खैरियत इसी मे है कि वह विजन (Vision) पर अड़ी रहे। कविता के भाव, आवेग और विचार तथा उसके चित्रण और निर्माण की समस्त-प्रक्रिया को कल्पना के भीतर से उठना चाहिये अथवा यदि उसका आरम्भ बाहर होता हो तब भी उसकी परिणति कल्पना मे ही की जानी चाहिये। कवि को बहुत-से उपदेश दिये जाते हैं और इन उपदेशो से, अक्सर, उसकी उलझन ही बढ़ती है। किन्तु, तब भी एक बात है जिससे कवि को कभी भी विचलित नही होना है और वह यह कि उसे इसका व्रत ले लेना चाहिये कि वह उन शब्दो के परे पहुँचेगा, जो उसकी कविता मे आते हैं। वह उन चित्रो का अतिक्रमण करेगा, जो उसकी उक्ति को सजीव बनाते हैं। वस्तु के जिस रूप की झाँकी वह अपनी कविता मे अंकित करता है, वह रूप कवि के लिए सीमा या बन्धन का निर्माण नही करे, प्रत्युत कवि को अपनी दृष्टि बराबर उस रूप के परे रखनी चाहिये।

किन्तु, जीवन का हर एक पहलू युग के अनुसार बदला करता है तथा ऊपर जिस 'विजन' या कल्पना की चर्चा की गयी है वह भी युग के अनुरूप ही रूप ग्रहण करती है। आदियुगीन मानव की दृष्टि आधिभौतिक दृश्यो पर थी, उसकी दिलचस्पी उसी दुनिया से थी जो उसके आस-पास फैली हुई थी एवं जीवन की जो स्पष्ट कथा थी, मनुष्यों मे जो प्राथमिक आवेग और विचार थे, उन्ही में उसे रस भी मिलता था। बाद को चलकर, वह अपनी भावनाओ को बौद्धिक रूप देने लगा, किन्तु उसके विषयो का स्तर वही रहा, जो पहले था। गोचरमन के भीतर से कल्पना को अपील करनेवाली सबल कविता और बुद्धि के समीप जीवन की व्याख्या करनेवाले अनेक सुन्दर काव्य इन्ही युगो की रचनाएँ हैं। इससे ऊँचा स्तर तब आता है, जब मनुष्य जीवन के पीछे काम करनेवाली प्रच्छन्न शक्तियो का परिचय कुछ अधिक सामीप्य के साथ पाने लगता है। सभी मनुष्यों की तरह कवि का चर्मचक्षु भी इन रहस्यो को देख नही पाता। किन्तु, सहजज्ञान के सहारे वह उनका जिस रूप मे अनुभव करता है, उसे संकेत की भाषा मे वह इस ढंग से व्यक्त करता है, मानो, यह दृश्यजगत् किसी बड़े विश्व का खण्ड हो, मानो, हम छोटे-छोटे मनुष्य किसी महान् वास्तविकता के अश हो। इससे भी कही ऊँचा स्तर वह है जहाँ वस्तुओ के भीतर छिपी हुई रूह मनुष्य के पास चली आती है तथा इस दृश्यजगत् के परे वाला विश्व उसकी आँखो के सामने निरावृत होने लगता है। किन्तु, कविता के भीतर बसनेवाली सारी शक्तियाँ तो उस दिन उन्मुक्त होगी जब समग्र आध्यात्मिक जगत् ही कवि के अधिकार मे होगा और वह उस युग और जाति का प्रतिनिधि होकर गायेगा, जो युग विराट के रहस्योद्घाटन के किनारे पर खड़ा होगा।

शब्द और लय मे आवेश की तीव्रता भरने से ही कवि के कर्तव्य की इतिश्री नही हो जाती, उनमे उसे अपनी कल्पना की सजीवता और सघनता को भी स्थान देना चाहिये। किन्तु, इसके लिए यही काफी नही है कि कोई कवि असाधारण रूप से दिव्य दृष्टिवाला हो, प्रत्युत काव्य की इस सफलता का जिम्मा युग और जाति के मानसिक विकास पर भी है। इस कोटि की कविता उसी परिमाण अथवा अनुपात मे लिखी जायगी, जिस अनुपात मे समाज के विचार और अनुभूति का विकास होगा ; जिस अनुपात मे समाज मे संकेतो और प्रतीको की संख्या एवं अर्थगर्भता की वृद्धि होगी तथा जिस अनुपात में समाज के हृदय मे आध्यात्मिक अनुभूतियो की पूँजी एकत्र होगी। केवल सामाजिक ही नही, आध्यात्मिक कवि भी अपने ही समय की उपज होता है।

जीवन जिस अविश्लिष्ट लय की लपेट मे चल रहा है, कविता उसी लय की श्रव्य स्वर-लहरी है ; वह जीवन के भीतर प्रच्छन्न संगीत का बाहरी नाद है ; किन्तु, सदैव स्मरण रखना चाहिये कि यह नाद जीवन के अन्तराल से आता हैं, उसकी ऊपरी सतह से नही। कवि जब अपने-आपके अत्यन्त समीप होता है, तब निश्चित रूप से वह दृश्य को छोडकर अदृश्य मे उतर जाता है और यही से वह जो कुछ बोलता हैं, वह सार्वभौम सत्य का गुञ्जार बन जाता है। मनुष्य-जाति अपनी यात्रा सदैव सतह पर शुरू करती है और वह बराबर वस्तुओ की तह को अपना निशान बनाये उनके भीतर धँसती जाती है और इसी क्रम से मनुष्यता आध्यात्मिक जीवन की ऊँचाई की ओर बढती रहती है।

अरविन्द के मतानुसार कविता से वस्तुवाद अथवा जीवन के स्पष्ट और सीधे चित्रण की माँग करना अत्यन्त अनुचित कार्य है। वे कविता को इस योग्य नही मानते। उनका विश्वास है कि मानव-मस्तिष्क की कोई भी बडी शक्ति इस कार्य को सम्पन्न करके अपने आप से प्रसन्न नही हो सकती। विशेषत:, आगामी युग की कविता तो वस्तुओ के बाह्याकार तक रुकनेवाली ही नही है ; और वह इसलिए कि बाहर जो कुछ दीखता है, वही जीवन की सम्पूर्णता का प्रतिमान नही है। यह सच है कि प्राचीन काव्य मे भी वस्तु के भीतर निहित अज्ञात रहस्यो की व्याख्या की गयी है, किन्तु, इस व्याख्या के साधन, प्रधानत कथा-कहानी और कृत्रिम प्रतीक रहे हैं। किन्तु, अब दिव्य सत्यो की बडी-से-बडी गहराइयाँ भी मानव-मन के सामने निरावृत होनेवाली हैं। अतएव, कविता मे कथा-कहानी के प्रतीको का महत्त्व दिनोदिन कम हो जायगा और जिस विश्व के सम्बन्ध मे पहले संकेत किये जाते थे, उसका अब आँखो-देखा वर्णन काव्य मे उपस्थित करना होगा। महर्षि कहते हैं कि सभी जीवन, असल मे, एक है और एक नया मानव-मन इस कविता की अनुभूति के लिए आगे बढ रहा है। हमारे वैयक्तिक अस्तित्व, सारी प्रकृति, समग्र सृष्टि और स्वय परमात्मा के बीच जो एकत्व का सूत्र परि-

व्याप्त है, उस सूत्र की अनुभूति ही अगले युग की वास्तविक अनुभूति होगी और जो कविता इस एकत्व को ध्वनित करेगी वह हमारे पार्थिव जीवन की वास्तविकता को न्यून करने के बदले उसे कुछ और प्रखर ही बनायेगी। उस कविता के द्वारा आनन्द और भी समृद्ध होगा, जीवन की व्यापकता और भी वृद्धि और प्रसार पायेगी तथा मनुष्य का व्यक्तित्व और भी प्राणपूर्ण एव गतिमान हो जायगा।

The future poetry will be the voice and rhythmic utterance of our greater, our total, our infinite existence and will give the strong and infinite sense, the spiritual and vital joy, the exalting power of a greater breath of life.

कविता को श्री अरविन्द मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया मानते हैं तथा उनका विचार है कि काव्य के विकास अथवा उसकी प्रगति का मूल्य आँकने मे यह जिज्ञासा प्रधान नही है कि उसकी टेकनिक किस रूप मे बदल रही है, बल्कि, यह कि उसके भीतर किस धरातल की चेतना अपना बिम्ब फेंक रही है। मनुष्य का मानसिक धरातल, उसके मन की दिशा, उसकी आत्मा की जार्गात, ये ही चीजें प्रधान हैं, क्योकि इन्ही की अभिव्यक्ति के लिए भाषा, छन्द और शैलियाँ अभिनव रूप धारण करती हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि कविता मानवात्मा के उत्तरोत्तर होनेवाले विकास का साथ दे और चित्रण की सामग्रियो के मोह मे पडकर वह आत्मा को सहज अभिव्यक्ति के मार्ग मे कोई रुकावट नही डाले।

श्री अरविन्द मानते हैं कि भावी कविता कल्पना और पाण्डित्य से नही, प्रत्युत, सीधे सुसंस्कृत कवि की आत्मा से जन्म लेगी। ह्विटमैन, कारपेटर, ए० ई० और रवीन्द्र की कविताओ मे अभिव्यक्ति की जो वेदना है, वह इसी आगामी कविता की जन्म पीडा की सूचना देती है*। कविता की प्रगति का इतिहास, वस्तुतः मनुष्य के सांस्कृतिक मानस के विकास का इतिहास है। बहुत नीचे से बढता-बढ़ता मनुष्य का यह मस्तिष्क अब बौद्धिक स्तर तक पहुँच गया है। प्रश्न यह है कि इस प्रगति के क्रम मे मानव-मन और आगे बढेगा अथवा वह मनोविज्ञान की किसी अदृष्ट झुरमुट की ओर भटककर कहीं खो जायेगा। श्री अरविन्द के मतानुसार मनुष्य का अगला कदम आध्यात्मिकता की ओर होना चाहिये; क्योकि बुद्धि के ठीक आगेवाला स्तर अतिमानस और आध्यात्मिकता का ही स्तर है। जिस धार्मिक युग को हम पीछे छोड़ आये है, उसे श्री अरविन्द निचले स्तर की चीज

* श्री अरविन्द ने ईलियट और एजरा पौण्ड की रचनाओ का विश्लेषण नही किया है तथा आलोचना के सिलसिले मे वे उन कवियो का उल्लेख अधिक करते रहे हैं जो रोमांटिक मनोदशा से पीडित थे। श्री अरविन्द की अपनी रचनाओ मे भी रोमांटिक भावुकता का दोष बहुत है।

मानते हैं और उनका कहना है कि वह धार्मिकता आगामी आध्यात्मिकता का पर्याय नही होगा। असल में, वह धार्मिकता बौद्धिक जिज्ञासाओ और अनुसंधानो के नीचे ध्वस्त हो चुकी है। आगे की आध्यात्मिकता उसकी अपेक्षा सर्वथा भिन्न, नवीन और सूक्ष्म वस्तु होगी; प्राय वह उस बौद्धिकता से ही नवनीत के रूप मे निकलेगी, जिसके प्रकाश मे मानवता अब तक चलती रही है तथा जिसके भार के नीचे वह अब कुछ छटपटाने भी लगी है। अगर मनुष्य ने अपने सामने के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्वीकार नही किया तो वह बौद्धिकता के चरखे से निकलने-वाले सूत के आवर्त्तों मे पडकर रह जायेगा, क्योंकि इस सूत्र का अब कोई और अगला छोर नही है। अथवा यह भी हो सकता है कि सभ्यता पीछे की ओर खिसककर बुद्धि के उस गर्त मे गिर जाय, जिसे हम बौद्धिक बर्बरता की खाई कह सकते हैं।

बौद्धिकता के स्तर से निकलकर आध्यात्मिकता के शिखर तक पहुँचने मे कविता मनुष्य की असीम सहायता कर सकती है, श्री अरविन्द का यह विश्वास उनके सभी निबन्धो से सहज ही फूट पडता है। किन्तु, इस कविता को अत्यन्त सूक्ष्म और वेधक रूप लेना पड़ेगा। वह बहुत कुछ मन्त्रो के समान सुगठित और ज्योतिपूर्ण होगी। उन्होने एक स्थान पर यह कहा भी है कि काव्यात्मक विचार और अभिव्यक्ति के सर्वोच्च एव सर्वाधिक सघन (Intense) माध्यम मन्त्र ही हैं। मंत्रो की रचना वह करता है जिसके देखने का अर्थ प्रच्छन्न भेदो का देखना, जिसके सोचने का तात्पर्य अदृश्य और अगोचर का साक्षात्कार एव जिसकी अनुभूति का अभिप्राय आत्मा, परमात्मा, मनुष्य, प्रकृति, विचार, अनुभूति और कार्य के बीच एकत्व की अनुभूति होती है। देखने और सुनने मे भेद नही है, सार्वभौम सत्य की अनुभूति मे एक इन्द्रिय जाग्रत और अन्य इन्द्रियाँ सुप्त नही रहती। सार्वभौम सत्य की अनुभूति एक साथ सभी इन्द्रियो से की जाती है। कानो के लिए जो लय है, आँखो के लिए वही रूप बन जाता है। इसीलिए, मन्त्रों के द्वारा हमारा मन जिस रूप का दर्शन करता है, वही रूप सगीत बनकर हमारी सम्पूर्ण आत्मा मे व्याप्त हो जाता है। किन्तु कविता मन्त्र-पद को तभी प्राप्त करती है, जब वह अत्यन्त निगूढ सत्य के अन्तराल से प्रकट होती है और उस सत्य के भीतर सगीतमयता की जो अपार शक्ति है, उससे भली-भाँति सवलित होती है।

श्री अरविन्द की दृष्टि मे भावी कविता का अत्यन्त परिष्कृत रूप मन्त्र ही होगा। किन्तु, वे यह नही मानते कि इस प्रकार की कविता दूर से आनेवाली अस्फुट तान के समान अस्पष्ट अथवा नीचे से बहुत ऊँचाई पर दीखनेवाली ज्योति के समान धूमिल होगी। इसके विपरीत, उनका कहना है कि यह कविता दूरस्थ को भी समीप लाकर दिखलायेगी, अतीत मे जो कुछ कहा जा चुका है, उसे भी अपूर्व

सौन्दर्य और चमत्कार से कहेगी तथा क्षणिक और शाश्वत का भेद नही मानकर वह सभी प्रकार के विषयों को एक नयी विभा मे नहलाकर मनुष्य के जीवन को समृद्ध करेगी। उड़कर वह बहुत ऊँचा भी जायेगी। किन्तु, मिट्टी का वह तनिक भी अनादर नही करेगी। वह पृथ्वी को अपना वास-स्थान मानते हुए भी उन अनेक अन्य वास्तविकताओ को भी अपना विषय बनायेगी जो मनुष्य के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रभाव डालनेवाली हैं। सक्षेप मे, सान्त और अनन्त, विश्व के दोनो ही रूप उसके साम्राज्य के अन्तर्गत होगे।

काव्य-कृतियाँ

सामान्य मानसिक स्तर से मनुष्य का अतिमानस की भूमि पर सभावित प्रवेश श्री अरविन्द के दर्शन का निचोड मालूम होता है और इसी के अनुरूप वे भावी कविता की भी अतिमानस के क्षरण के रूप मे ही कल्पना करते हैं। सभवतः, अपनी साधनाओ के द्वारा वे उस धरातल पर पहुँचकर विराजमान हो चुके थे जो मानव-जाति का अगला निर्दिष्ट स्थान है और उस स्तर से उन्होने काव्य की जो किरणें फेंकी है, वे सचमुच ही अद्भुत और महान् है तथा यद्यपि उस काव्य का सम्पूर्ण अर्थ सब पर नही खुलता, तथापि उनमे अभिव्यक्ति के लिए जो बेचैनी और उनके कथन की भगी मे जो चमत्कार है, वही उस बात का प्रमाण बन जाता है कि श्री अरविन्द किसी ऐसी अनुभूति को रूप देना चाहते हैं जो अब तक अछूती और अव्यक्त रही है।

श्री अरविन्द की कविताएँ उस अर्थ मे धार्मिक नही हैं जिस अर्थ मे हम धार्मिक कविताओ को पहचानने के आदी रहे हैं। ये कविताएँ दार्शनिक भी नही कही जा सकती; क्योकि श्री अरविन्द भी अन्य कितने ही सुधी आलोचको के समान दर्शन को काव्य का पर्याय नही मानते। वे सामान्य अर्थ मे बौद्धिक भी नही हैं; क्योकि उनके भीतर ऐसे अनेक सम्बन्धो की ओर निर्देश है जिन्हे सामान्य बुद्धि ग्रहण नही कर सकती। और सबसे विस्मय की बात तो यह है कि इन कविताओ को हम रहस्यवाद की कोटि मे भी नही रख सकते; क्योकि रहस्यवादी कवियो मे मस्ती, अक्खड़पन और साकेतिकता चाहे जितनी भी मिले, उनकी वाणी किसी अधूरी अनुभूति का उद्घोष मालूम होती है। उनकी कविताओ को पढकर मन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है, जैसे वे जो कुछ देखते हैं, उसे भलीभाँति समझ नही पाते, जैसे उनके विजन (Vision) की झाँकी खुद उनके लिए भी धुँधली रह गयी हो; जैसे वे, जो कुछ कहना चाहते हैं, उसके उपयुक्त भाषा का उनके पास अभाव हो। इसके विपरीत, श्री अरविन्द की वाणी के पीछे विश्वास की प्रबलता के दर्शन होते हैं। अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो का चित्र उपस्थित करने का उनका ढंग सर्वथा विलक्षण और नवीन है। इन अनुभूतियो के ऊपर मानवीय सकेतो, प्रतीको और रूपको का परिधान नही है। वे दैनिक जीवन के चित्रो

और अलंकरणो से काम नही लेते। ऐसा मालूम होता है, मानो, वे अपनी निगूढ अनुभूतियो को बिलकुल नग्न रूप मे ही उपस्थित कर रहे हो। सत्य मे जो एक प्रकार की रुखाई और तिग्मता होती है, उसे वे कम करने की कोशिश नहीं करते ; आदमी साहित्य में आकर जिस मिठास के लिए जीभ फैलाने का आदी हो गया है, उस मिठास का एक कण भी श्री अरविन्द की उक्ति मे नही मिलता। वे पाठको को प्रसन्न करने की इच्छा से, उनके दिलो को गुदगुदाकर जगाने के अभिप्राय से अथवा रंगीनी दिखाकर उन्हे अपनी ओर आमन्त्रित करने के विचार से अपनी कविताओ मे कभी भी किसी प्रकार के मिश्रण (adulteration) को स्थान नही देते। अनुभूति वे ही लिखते हैं जो सोलह आने उनकी अपनी है और उनकी शैली को भी केवल इसी का ध्यान है कि जो कुछ वह लिखना चाहती है, वह ठीक-ठीक लिखा जा रहा है या नही। उनके विचार अत्यन्त सुघर, उनकी भावना पूरी तरह तराश खायी हुई और उनकी शैली शक्ति और प्रकाश से पूर्ण होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि "भावी कविता" नामक निबन्ध मे उन्होने कवि-कर्म की जाँच जिस धरातल पर की है, उस धरातल पर उनकी कविता बहुत दूर तक खरी उतरती है।

यह कविता का सौभाग्य है कि श्री अरविन्द ने उसे अपनी अनुभूतियो का वाहन चुना और चूंकि मानव के अगले विकास की प्रक्रिया को तेज करने मे उन्होने काव्य की सत्ता को स्वीकार किया है, इसलिए, आशा की जानी चाहिये कि अगले युग मे कविता एक बार फिर मानवात्मा की सबसे अधिक शक्तिशालिनी अभिव्यक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित होगी। किन्तु, क्या श्री अरविन्द उसी अर्थ मे कवि हैं जिस अर्थ मे ससार के कोने-कोने मे कवि रोज ही पैदा होते और रोज ही मरते रहते हैं? ऐसा मान लेना तो सभी मनुष्यो को ठीक उसी अर्थ मे मनुष्य मान लेना है, जिस अर्थ मे गाँधीजी अथवा श्री अरविन्द भी मनुष्य थे। श्री अरविन्द के काव्य और काव्य-सम्बन्धी निबन्धो से कवि का जो रूप प्रकट होता है, वैसा कवि आज कहाँ है और सम्पूर्ण विश्व के सारे इतिहास मे कितने ऐसे कवि हुए हैं, जो श्री अरविन्द के मापदण्ड पर खरे उतर सकते हैं? कल्पना और उपकल्पना के सहारे, स्मृति के कोष मे से फूलो और कलियो, तरुणो और तरुणियो, खद्योतो और सितारो तथा इन्द्रधनुष और बादलो को चुन-चुनकर कविता के घेरो को सौन्दर्य से खचाखच भरकर बहुत-से लोग कवि कहला गये, मगर, यह तो बाजार से दो-चार हीरे, मोती और ज्यादातर रंगबिरंगे काँच के टुकड़े खरीदकर शीशमहल तैयार करने के समान है। और क्या इस महल मे जीवन का वह देवता वास करेगा, जिसे बसाने के लिए साधन का सारा प्रयास है? ससार मे ऐसे कवि कम हुए हैं, जिन्हे अपनी अनुभूति की सचाई पर पूरा विश्वास था और जो ससार को अमिश्रित रूप मे केवल अपनी अनुभूति ही देना चाहते थे। अधिक तो ऐसे ही

हुए है, जिनमे अनुभूति कम, रंगो का मोह और गाने की फिक्र अधिक थी ; जो अपनी प्रज्वलित अनुभूति से छूकर दूसरो के हृदय को दीप्त करने से अधिक सुनने-वालो को प्रसन्न करने के लिए ही आतुर थे। जो कवि हमे अपनी तस्वीरो की रगीनी दिखाकर तथा अपनी मीठी तान सुनाकर हम से वाहवाही लेने आता है, वह भला यह कैसे समझ पायेगा कि कवि का कर्म कविता दिखाना नही, प्रत्युत कविता के भीतर से कुछ और दिखाना होता है ?

नारियो के कुन्तल-जाल और उनकी आँखो की मदिरा की अपेक्षा मनुष्य की सामाजिक मुक्ति की समस्या कही श्रेष्ठ और महान् विषय है ; किन्तु, सबसे महान् विषय तो, शायद, यही हो सकता है कि हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे और मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जायेगे ? तथा यह नाना नामरूपमय विश्व कहाँ से उछलकर हमारे सामने आ गया है ? किन्तु, सदियो से मनुष्य को सरलता और माधुर्य के सेवन की बान पड गयी है। पीढी के बाद पीढी के कवियो और आलोचको ने मनुष्य को यही शिक्षा दी है कि कविता नर-नारी के सामान्य प्रेम मे है, कविता कामना की ज्वाला और वेदना के अश्रु मे वास करती है तथा कविता के मानी फूल और चाँदनी हैं।

Poetry has been treated as the expression of human joys and sorrows—the tears of mortal things of which Virgil spoke. The savour of Earth, the thrill of the flesh has been too sweet for us and we have forgotten other sweetnesses. —N. K. Gupta

फूल और चाँदनी, नर और नारी, कामना और वेदना, कविता मे इनमे से किसी के भी आगमन का निषेध नही है। किन्तु, इसानियत के निचले तवके की सनसनाहट और सतह पर के बुलबुलो से खेलनेवाला कवि अगले युग मे नही ठहरेगा। यह तो बौद्धिकता से भी निचले स्तर की क्रीड़ा है। श्री अरविन्द के मतानुसार तो अतिमानस की भूमि पर पहुँचकर दिव्यता का गान गानेवाला कवि अगले युग का प्रतिनिधि होगा।

'उत्तरा' की भूमिका मे प० सुमित्रानन्दन पन्त ने ससार के अन्य चिन्तको और दार्शनिको को ऊँट तथा श्री अरविन्द को पहाड़ कहा है। इस उक्ति से साधारणतया लोग घबराते हैं और उन्हे यह भ्रम सताने लगता है कि हो न हो, यह सम्पूर्ण सत्य नही, प्रत्युत, वैयक्तिक श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। किन्तु, एक बार श्री अरविन्द के साहित्य-शिखर के पास पहुँचने पर बड़े-बड़े दिग्गजो का धीरज डोलने लगता है और ज्यो-ज्यों वे अरविन्द-साहित्य के ऊपर चढ़ने का प्रयास करते हैं, त्यो-त्यो उन्हे यह आप-ही-आप विदित होने लगता है कि अरविन्द, सचमुच, पहाड़ हैं—एक ऐसा ऊँचा पहाड़ जिस पर स्वर्ग से उतरनेवाली किरण सब से पहले आती है तथा जिसकी गुफाओ एवं दरारो मे जीवन के अनेका-

नेक भेद छिपे हुए हैं। और, जैसा कि श्री सेठना ने कहा है, इस पर्वत की सबसे बड़ी चोटी कविता की ही चोटी है। श्री अरविन्द जन्मजात कवि थे तथा अपनी जवानी के दिनो मे भी उन्होने जो कविताएँ लिखी, वे परम्परा से सर्वथा भिन्न और किसी नवीन सन्देश की आभा से आभासित थी। एक मान्यता रही है कि मनुष्य कविता के माध्यम से अपना विकास कर सकता है, किन्तु, कविता को अरविन्द ने अपने विकास नही, प्रत्युत, आध्यात्मिक अनुभूतियो के दान का माध्यम बनाया। शायद, इकबाल ने कहा था कि कविता जीवन तक पहुँचने का सबसे सीधा और कम दूरीवाला मार्ग है; मगर, अरविन्द जीवन तक कदाचित्, योग के द्वारा पहुँचे। फिर भी, अन्य असंख्य मानवो को जीवन तक पहुँचाने के लिए वे कविता का अधिक-से-अधिक आश्रय लेते गये। सर्वव्यापी सत्य का उद्गार सूर्यमण्डल से आने पर भी धुँधला होता है। जीवन के भीतर जो सबसे बडी शक्तियाँ प्रच्छन्न है, वे सकेतो की भाषा मे अभिव्यक्त होती है। यह सबके अनुभव की बात है कि जिस उद्गार से हमारे प्राणो मे आलोक का ज्वार-सा उठने लगता है, उसमे स्वयं एक प्रकार की धूमिलता होती है। इसीलिए, ऐसी अभिव्यक्तियो का सहज माध्यम कविता ही हो सकती है और जिस कवि मे योग की जितनी ही सघन मुद्रा का विकास होता है, उसकी वाणी उतनी ही अधिक धूमिल और धूमिल होते हुए भी आत्मा मे उतना ही अधिक प्राणवान आलोड़न मचानेवाली होती है।

श्री अरविन्द को कविता, कदाचित्, पारिवारिक विरासत के रूप मे मिली थी, क्योंकि उनके भाई श्री मनमोहन घोष भी अच्छे कवि थे। और, दोनो भाइयो पर यूनान के आचार्य का पूरा प्रभाव था। यूनानी काव्य का प्रभाव तो श्री अरविन्द की कविता पर इतना अधिक पड़ा है कि कितने ही आलोचकों का विचार है कि कारीगरी और मनोदशा की दृढ़ता मे वे बडे-से-बडे यूनानी कवियो की पंक्ति मे रखे जा सकते हैं। उनकी कविताओ मे आनेवाले चित्रों में जो संगतराशी मिलती है, वह, प्रायः यूनानी संगतराशो की कला का ही पर्याय है। ढाँचे की खूबसूरती; समृद्धि की प्रचुरता मे, कल्पना जहाँ क्षणभर विलास करने की ओर प्रेरित हो वहाँ भी तटस्थता एवं सयम का भाव तथा अलकरण और रीति का सहारा लेकर काव्य मे कृत्रिम सजावट लाने की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव, ये श्री अरविन्द की कविता के कुछ विशिष्ट गुण हैं। भारतीय-साहित्य का भी वही भाग उनपर प्रभाव डाल सका है, जो रीतिवाद के आरम्भ के पूर्व रचा गया था। यो गीता और उपनिषदो मे काव्य की जो गम्भीरता मिलती है, वह श्री अरविन्द की अपनी विशेषता है। किन्तु, इससे यह नही समझना चाहिये कि श्री अरविन्द मृतको के साथी एव अतीत की गुहा मे बैठे हुए पण्डित कलाकार है। असल मे, गुजरे हुए जमाने के साथ मानवता की जो दृष्टि विलुप्त हो गयी है, उसे श्री अरविन्द ने आज के जीवन और विचारो के साथ, एकाकार कर दिया है और वे जो कुछ भी बोलते हैं, उसमे

विचारो, भावनाओ एवं कल्पनाओ की वे सभी ऊँचाइयाँ प्रतिध्वनित होती हैं जो अतीत या वर्त्तमान मे काव्य और साहित्य का शृंगार कर चुकी हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि जिस प्रकार की कविता श्री अरविन्द ने की है, उसकी परम्परा का विश्व मे सर्वथा अभाव नही रहा है। किन्तु, बात यह है कि श्री अरविन्द का कवि जिस धरातल पर बसता है, उस धरातल की झाँकी पहले के कवियो को कभी-कभी ही मिलती थी और इसी झाँकी की अनुभूति उनकी कविताओ मे सर्वोच्च शिखर बनकर चमकने लगती थी। मगर, जो चीज इतनी अलभ्य थी, उसका सम्पूर्ण भाण्डार ही श्री अरविन्द ने मनुष्यता को उठाकर दे दिया है और यह दान, यद्यपि पाण्डिचेरी की साधना के दिनो मे पूर्णता पर पहुँचा, किन्तु, उसकी दिशा का सकेत उनकी आरम्भिक कविताओ मे भी मिलने लगा था।

अरविन्द-काव्य को एक आलोचिका ने छ भागो मे विभक्त किया है, जिसका आधार, गुण नही, प्रत्युत काल है। कवि की प्रगति को आँकने का यह भी एक मार्ग है, किन्तु, इसे हम सच्चा मार्ग नही मानते, क्योकि जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व की कविता एक ही काव्य है तथा भिन्न-भिन्न युगो मे, भिन्न-भिन्न कवियो के द्वारा विरचित सारी कविताएँ उसी एक महाकाव्य के अनेक सर्ग और कड़ियाँ हैं; उसी प्रकार, प्रत्येक कवि भी जीवन भर मे केवल एक ही कविता लिखता है एवं उसकी सारी कविताएँ उसी एक काव्य की विभिन्न कड़ियाँ होती हैं। जीवन भर की सारी अनुभूतियो को अगर हम एक तार मे गूँथना चाहे, तो इसमे कोई कठिनाई नही होगी। फर्क सिर्फ यह होगा कि अनुभूतियाँ नीचे-ऊपर गूँथी जायँगी, अर्थात् उनके स्तरो मे भेद होगा। और, यह भी नही कहा जा सकता कि कविता केवल एक ही स्तर पर पहुँचकर पूर्ण होती है; असल मे, अनुभूतियाँ जिस स्तर पर जन्म लेती है, उनकी अभिव्यक्ति उस स्तर पर भी उतनी ही पूर्ण हो सकती है, जितनी किसी अन्य स्तर पर। काव्य की उच्चता की पहचान उसमे प्रतिफलित होनेवाली चेतना की ऊँचाई पर निर्भर करती है। किन्तु, अभिव्यक्ति की पूर्णता का दारोमदार कारीगरी की खूबी पर है। यह ठीक है कि ऊँची चेतना को अभिव्यक्त करने के लिए कारीगरी को भी ऊँचा जाना पडता है और जहाँ चेतना के अनुरूप टेकनिक का विकास नही हो पाता, वहाँ हमे काव्य मे विशृङ्खलता और असमानता के दर्शन होते हैं। किन्तु, जिसे साधना का बल है, जो टेकनिक की कमजोरी को अटल मानकर बैठ नही जाता, उस कवि की रचनाओ मे इस वैषम्य की कोई भी सम्भावना नही रहती। लेकिन, ऐसी बाते तो श्री अरविन्द के प्रसंग मे चलायी भी नही जा सकती; क्योकि उनके दोनो पक्ष समान रूप से बलवान हैं तथा वे जब जिस स्तर पर रहे, वहाँ की अनुभूतियो को उन्होने बडी ही सफलता के साथ अंकित किया है तथा जीवन के सामान्य-सम्बन्धो के चित्रण मे भी उन्होने एक अद्भुत दिव्यता भर दी है।

कालक्रम के अनुसार उनका सबसे प्रथम काव्य-सग्रह Songs to Myrtilla है जिसमे सगृहीत कविताओ की रचना उस समय हुई थी जब श्री अरविन्द अठारह-बीस के रहे होगे। इन कविताओ के सम्बन्ध मे आलोचको का मत है कि वे अतिबौद्धिकता के रोग से पीडित हैं और उनके भीतर हम उस अभिव्यक्ति तक पहुँचने का आभास भर देखते हैं जो आगे चलकर अरविन्द-काव्य की विशेषता बननेवाली थी। इसके सिवा, उनमे हम यदा-कदा स्पेन्सर और एलिजाबेथ-युगीन कवियो एव केवेलियर और रेस्टोरेशन काल के कवियो की भी प्रतिध्वनियाँ सुनते है। इस सग्रह मे कुछ राजनीतिक कविताएँ भी हैं जिनपर ड्रायडन और स्काट की शैली की छाप है। हाँ, आयर्लैंड को लक्ष्य करके रचित कविता मे हम उस सूक्ष्म एव गम्भीर लोच का आभास पाते हैं जो आगे चलकर उनकी "बाजी प्रभु" नाम्नी कविता मे चरम विकास पानेवाली थी।

Men are fathers of their fate,
They dig the prison, they the crown command.

इन पक्तियो मे भी, यद्यपि, अरविन्द की अपनी विशिष्टता खुलकर प्रकट नही हुई है, फिर भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि इनके भीतर वह शैली अपना जन्म ले रही थी जिसका पूरा चमत्कार हम उनकी बाद की कविताओ मे देखते हैं।

इसके बाद, दो विवरणात्मक कविताओं का समय आता है जिनके नाम 'उर्वशी' (Urvasie) तथा "प्रेम और मृत्यु" (Love and Death) हैं। ये दोनों ही रचनाएँ खण्ड काव्य हैं। इनमे से एक का नायक पुरुरवा और नायिका उर्वशी तथा दूसरे का नायक रुरु और नायिका प्रियवदा है। महाभारत की कथा मे कहा गया है कि पुरुरवा और उर्वशी का वियोग इसलिए हुआ चूँकि पुरुरवा ने उर्वशी से उत्पन्न अपने पुत्र का मुख देख लिया था। इस शापजनित कारण के बदले श्री अरविन्द ने एक अधिक काव्यात्मक कल्पना से काम लिया है कि स्वर्ग की विभूति का भोग मनुष्य तभी तक कर सकता है जब तक वह अपनी नग्नता पर आवरण दिये रहे। उर्वशी ने पुरुरवा का त्याग इसलिए किया कि असावधानता के कारण पुरुरवा के निर्वसन अङ्ग पर उसकी दृष्टि पड गई थी। दोनो कविताएँ एक प्रकार से दु.खान्त भी है; क्योकि उर्वशी की खोज मे पुरुरवा आकाश को चला जाता है और प्रियंवदा (जो यौवन-प्राप्ति के पूर्व ही मार डाली जाती है) को पाने के लिए रुरु पाताल मे प्रवेश करता है। इन कविताओ के सम्बन्ध मे बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि आशा और उल्लास से पूर्ण एक युवक कवि ने इन्हे दु.ख मे क्यो समाप्त किया। इस प्रश्न का सहज उत्तर यह है कि जिन दिनो इन कविताओ की रचना हुई, उन दिनो अरविन्द भारतीय राजनीति के ध्यान मे मग्न थे और वे, कदाचित् इस प्रश्न पर चिन्ता कर रहे थे कि इतने बड़े आध्यात्मिक देश का ऐसा भयकर पतन क्यो हुआ। पुरुरवा के रूप मे उन्होने भारत के क्षात्रधर्म और रुरु के

रूप मे यहाँ की ब्राह्म-शक्ति को रखा है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि भोग और विलास की अतिकामना से दोनो का विनाश हुआ है।

. . .. at last

Their power by excess of beauty falls,

Tny sin, Pururavas—of beauty and love:

And this the land divine to impure grasp

Yeilds of brabarians from the outer shores·

श्री अरविन्द का काव्य-साहित्य काफी विस्तृत है, किन्तु, सामान्य पाठक उनकी सावित्री-काल के पूर्व की रचनाओ मे ही विशेष रस लेते हैं। विशेषत', 'उर्वशी' शृङ्गार रस का विलक्षण काव्य है। इसकी अनेक पक्तियाँ 'सावित्री' की पक्तियों से होड लेती हैं, किन्तु, बुद्धिगम्य कथाप्रसग के भीतर रहने के कारण उनका चमत्कार हमारे सामने आसानी से खुल जाता है। "प्रेम और मृत्यु" के चित्र भी, इसी प्रकार, हमे आनन्द के सूत्र मे बाँधकर बहुत ऊँचा ले जाते हैं। केवल छन्द की गति ही नही, काम-चेतना की दिव्यता ने भी इन दोनो कविताओं मे अप्रतिम चमत्कार उत्पन्न किया है। उदाहरण के लिए, Love and Death' मे से रुरु के प्रति काम की इन उक्तियो को देखिये,

I am that Madan who informs the stars

With lustre and on life's wide Canvas fills

Pictures of light and shades, of joys and tears,

Makes ordinary moments wonderful

And Common speech a charm,

× × ×

And drive her to the one face never seen,

The one breast meant eternally for her.

× × ×

And soft glad things cluster around my name,

× × ×

But fiercer shafts I can wild storms blown down

Shaking fixed minds and melting marble natures.

× × ×

They who abandon me, shall to all time

Clasp and possess; they who pursue, shall lose.

न जानें, किस पुरुष की कल्पना करते हुए मैंने एक बार चन्द्रमा को "विराग-

लोक का रसिक" और "मधुवन का सन्यासी" कहा था। किन्तु, वह रसिक सन्यासी कहाँ है, इसका मुझे तवतक पता नही था। और तव, एक दिन 'उर्वशी' और 'प्रेम तथा मृत्यु' नामक कविताओ के भीतर मैंने उसकी पदचाप सुनी। अरविन्द सासारिक सौन्दर्य से पूर्ण रूप से परिचित हैं, किन्तु उस सौन्दर्य के परे जो एक और भी विलक्षण सौन्दर्य है, अपने हृदय का प्रेम उन्होने उसी महत्तर सौन्दर्य को अर्पित किया है। कामदेव के नाम मे जो मादकता है, वह साधारण कवियो को ही तृप्त कर सकती है। अपनी माधुरी से मोह कर मदन केवल सामान्य जीवो से ही अपने जहरवाले वाण छिपा सकता है किन्तु, योगी अन्तर्दर्शी होते है, उनसे छल-प्रपच का खेल नही चल सकता, उनके सामने कामदेव को लज्जा के साथ स्वीकार करना ही पडा कि,

> They who abandon me, shall to all time
> Clasp and possess, they who pursue shall lose.

'उर्वशी' मे भी इसी प्रकार की निर्मल मादकता की धारा प्रवाहित हुई है। वल्कि, इस काव्य मे प्रेम की विभिन्न मुद्राओ का जैसा सजीव चित्रण हुआ है, उससे तो श्री अरविन्द प्रेम के इतने सफल कवि जान पडते हैं कि उन्हे कालिदास को छोडकर और किसी के पार्श्व मे विठाया ही नही जा सकता। हाँ, प्रेम के आन्तरिक हृदय को वे जिस कोमलता से पकडते है, स्वप्न की तृषा को वे जिस सजगता से तृप्त करते हैं, प्रेम की चेतना के भीतर वे जिस सूक्ष्मता से प्रवेश करके उसे एक नयी विभा से आर्द्र वनाते हैं तथा प्रेमी और प्रेमिका की आँखो मे वे जिस दिव्यता का जादू उत्पन्न कर देते हैं, वह सव का सव नवयुग की सुविकसित शृङ्गार-भावना की देन है। जिस समय उर्वशी और पुरुरवा का पहले-पहल साक्षात्कार होता है, उस समय का चित्र ऐन्द्रिय होते हुए भी दिव्य और पार्थिव होते हुए भी अलौकिता से पूर्ण है तथा उसमे कारीगरी की भी अपूर्व छटा निखरी हुई मिलती है।

> He moved, he came towards her. She, a leaf
> Before a gust among the nearing trees
> Cowered But all a sea of mighty joy
> Rushing and swallowing up the golden sand
> With a great cry and glad, Pururavas
> Seized her and caught her to his bosom thrilled
> Clinging and shuddering All her wonderful hair
> Loosened and the wind seized and bore it streaming
> Over the shoulder of Pururavas
> And on his cheek a softness.

और उर्वशी

And she received him in her eyes, as earth
Receives the rain,

× × ×

Her naked arms clasping his neck, her cheek
And golden throat averted, and wide trouble
In her large eyes bewildered with thier bliss,

यह प्रेम की पहली लहर का परपरागत वर्णन है, किन्तु, परपरागत होते हुए भी इस वर्णन मे एक आर्द्रता है जो केवल चोटी के कलाकारो मे ही मिल सकती है। दो शरीरो के आलिगन मे आत्मा के आलिगन के रूपक की कल्पना बहुत दिनो से की जाती रही है किन्तु, शरीर के मिलन के भीतर आत्मा के मिलन की झांकी काव्य मे थोडे ही लोग दिखला सके है। श्री अरविन्द अपने युग के निर्धारित और पूर्व-निर्दिष्ट पुरुष थे, अतएव, चढती जवानी मे भी उनकी दृष्टि मास के ताप को पार करके आत्मा की शीतलता तक पहुँच रही थी और वे प्रेम की पार्थिव मुद्रा मे भी दिव्यता का प्रसार देख रहे थे।

Amid her wind-blown hair their faces met,
With her sweet limbs all his, feeling her breast
Tumultuous up against his beating heart,
He kissed the glorious mouth of heaven's desire.

तथा

So clung they as two ship-wrecked in a surge.

'उर्वशी' का प्रत्येक चरण प्रेम के आवर्त्तशील एव सब को प्लावित करनेवाले महानन्द की धारा से परिपूर्ण है। उसमे एक ओर जहाँ रक्त और मास की पुकार दिव्यता के स्तर पर चढकर गूँजती हुई मिलती है, वहाँ दूसरी ओर उसमे ऐसे दृश्य भी अनेक है जहाँ प्रेम ईश्वरत्व का प्रतिरूप बन जाता है, जहाँ प्रेम मनुष्य की स्थूलता को बहाकर उसके चारो ओर ईश्वरता की जाली बुन देता है तथा जहाँ प्रेम की अनुभूति की चोट से द्रव्य की कठोरता गलकर सोने का पानी बन जाती है। विरही पुरुरवा जहाँ उर्वशी की खोज करता हुआ हिमालय के शिखरो पर घूम रहा है, वहाँ श्री अरविन्द कहते है —

He ceased and Himalay bent towards him, while,
The mountains seemed to recognise a soul.
Immense as they, reaching as they to heaven.
And Capable of Infinite solisude

यहाँ पुरुरवा की वेदना मे स्वय सर्वात्मा की गूँज सुनायी पड़ती है और अपने

उच्च सपनो की भाषा मे कवि पर्वतो को भी प्रमुख और चैतन्य किये हुए है। 'उर्वशी' एव 'प्रेम और मृत्यु' मे ऐन्द्रियता की आर्द्रता के साथ आदर्शवाद का जो आलोक आलिंगन मे लिपटा हुआ है, उसे देखते हुए श्री सेठना की यह उक्ति अत्यन्त समीचीन मालूम होती है कि—

Urvasie and Love and Death are created out of a mind vibrant with an idealistic sensuousness in which body and soul mingle their fervours, a high-toned passion based on the urgent tangibilities of the flesh without the crude and the cramped which ordinarily go with the fleshimpulses.

'उर्वशी', एव 'प्रेम और मृत्यु' के बाद, रचना-क्रम की दृष्टि से 'Poems' का स्थान आता है। इस सग्रह की कविताओ मे पूर्ववर्त्ती कविताओ की आवेश-मयता नही मिलती और न उनमे रक्त और मास का ही प्रभाती राग है। उनके भीतर हम बौद्धिकता के स्वर को प्रमुख होते देखते है और बौद्धिक द्रव्य से युक्त होने के कारण, बहुधा, उनकी तुलना ब्राउनिंग, टेनिसन (अशत), वर्ड्स्वर्थ और अँगरेजी के अठारहवी सदी के कवियो की कविताओं के साथ की गयी है। कुछ लोगो का कहना है कि 'Poems' के जमाने में कवि का काव्यावेग शायद शिथिल पड गया था किन्तु, यह भी सम्भव है कि कवि ने जान-बूझकर ही अपना स्तर बदल दिया हो और कविता की सेवा मे बुद्धि को जोतने के उद्देश्य से ही वे बौद्धिक स्तर पर चले गये हो। जो भी हो, किन्तु इस सग्रह मे भी हम कवि के उस प्रयास का चमत्कार अवश्य देखते हैं जिसका उद्देश्य मनुष्य को यह बतलाना है कि वह छोटा और तुच्छ नही, प्रत्युत, एक परम विशाल सत्ता का अपना अश है तथा उसके भीतर आकाश की उच्चता और व्यापकता, दोनो का प्रच्छन्न निवास है।

But the third Angel came and touched my eyes
I saw the morning of the future rise,
I heard the voices of an age unborn.
And from the heart of an approaching light.
One said to man, "know thyself infinite,
Who shalt do mightier miracles than these,
Infinite, moving mid infinities.

[A vision of Science]

'Baji prabhu and Perseus' नामक संग्रह की कविताओं की मूल प्रेरणा राजनीति से आयी है। और इन कविताओ मे श्री अरविन्द की कवि-प्रतिभा बिलकुल परिपक्व रूप मे सामने आती है। 'उर्वशी'-काल की रचनाओ मे फिर भी भावुकता

के प्रति एक प्रकार का मोह था जो यौवन का स्वाभाविक लक्षण है · 'उर्वशी' एवं 'प्रेम और मृत्यु,' इन दोनो कविताओ मे हम अलकरण की पटुता का भी प्रयोग देखते है। किन्तु, बाजीप्रभु मे काव्य के, अपेक्षाकृत इन हीन, कौशलो का प्रयोग नही हुआ है। यह कविता कटु नही, प्रत्युत शक्तिशाली और कठोर शब्दो के ढाँचे मे उतरी है तथा उसके सारे बन्द अपनी-अपनी जगह पर वज्र की खूँटियो मे ठुके हुए जान पडते हैं। अगर उर्वशी के प्रतीक ऊषा और फूल हैं, तो बाजीप्रभु का प्रतीक दोपहरी का ताप समझा जा सकता है। इस कविता मे जो दृढता और तेजस्विता धूप मे खडी ताम्र प्रनिमा की तरह जगमगा रही है उसे देखते हुए यही कहना चाहिये कि श्री अरविन्द के प्रचण्ड राजनीतिक सकल्प ने ही इसमे आकर मूर्त्त आकार ग्रहण कर लिया था।

By men is mightiness achieved, Baji
Or Malsure is but a name, a robe,
And covers one alone We but employ
Bhavani's strength, who in arms of flesh
Is mighty as in the thunder and the storm.

काव्यात्मक सत्य की जो कठोरता और सुस्पष्टता हम ऊपर की पक्तियो में देखते है उसका और भी निखरा हुआ रूप 'Ahana and other poems' में प्रकट हुआ। इस सग्रह की कविताओ मे हम उस मेनिफेस्टो का काव्यगत उदाहरण देखते है जिसकी ओर श्री अरविन्द ने अपनी "भावी कविता" नामक निबन्धमाला में सकेत किया है। इस सग्रह मे रहस्यवादी सकेत और रूपक का सहारा बहुत कम लिया गया है। उसके वातावरण मे विश्वास की स्वाभाविक ज्योति है तथा उसकी कविताओ को देखते हुए ऐसा लगता है, मानो सत्य अपने घर मे आकर विराजमान हो गया हो। जिस प्रकार, हम पृथ्वी की ओर बडे ही राग से प्रेरित है, उसी प्रकार, इन कविताओ मे श्री अरविन्द अध्यात्म की भूमि की ओर प्रेरित दीखते है और जिस प्रकार हमारे लिए धरती के आनन्द सहज और स्वाभाविक लगते है, उसी प्रकार, इन कविताओ मे अध्यात्म का विश्व श्री अरविन्द के लिए बिलकुल स्वाभाविक हो गया है। मैं जिन कविताओ के सम्बन्ध मे ऐसे अतिवादी उद्गार प्रकट कर रहा हूँ उनमे सासारिक जीवन की मधुरिमा और तारल्य का सर्वथा अभाव है, फिर भी क्या कारण है कि मुझे उनकी प्रशसा करनी पड रही है? कविता, कदाचित् केवल वही वस्तु नही है जो हमे प्रसन्न करती है, जो हमारे रक्त मे सनसनाहट और मास मे एक गुदगुदी का सचार करती है। उसकी सीमा, शायद, वहाँ भी नही है जहाँ हम कवि के स्पर्श से भीतर ही भीतर आलोड़ित होने लगते हैं। प्रत्युत, कविता मनुष्य को आविष्ट भी करती है; वह हमे समाधि मे ले जाकर

ससार से ऊपर भी उठाती है—एक ऐसी सहज समाधि जिसमे विचार जब बहुत शान्त रहते है तभी उनमे आलोडन भी अत्यधिक होता है—एक ऐसी समाधि जिसमे बाहर की ओर खुली रहने पर भी हमारी आंखे बाहर की अपेक्षा भीतर की ओर अधिक देख पाती है।

Through endless space and on time's iron wings A rhythm runs.

× × × ×

He made an eager death and called it life,
He stung himself with bliss and called it pain.

× × × ×

O Flowers, o delight on the tree tops burning.

× × × ×

Cold are your rivers of peace and their banks are leafless and lonely.

× × × ×

Skies of monotonous clam and his stillness slaying the ages

× × × ×

O thou golden image,
Miniature of bliss,
Speaking sweetly, speaking meekly !
Every word deserves a kiss.

ये कुछ स्फुट पक्तियाँ है जो प्रसङ्ग से छिन्न हो जाने पर भी हममे समाधि की तन्मयता को जाग्रत करने मे समर्थ है, प्रसङ्ग मे पढने पर तो पुस्तक बन्द करके मानसिक पारावार के किनारे खडा होकर पाठक को अपने भीतर आप ही निमग्न हो जाना पडता है। ऐसी अनुभूतियो के अलावे भी, इस सग्रह मे अनेक ऐसे चरण और पद है जिनमे किसी अदृश्य लोक की रहस्यात्मक अनुभूतियो के चित्र है, जिनमे न जानें किस पृथ्वी और किस आकाश के बिम्ब झिलमिलाते नजर आते है।

Through glimmering veils of wonder and delight,
World after world bursts on the awakened sight,

[The other Earths].

अब अरविन्द की उस कृति की चर्चा बच जाती है जो उनके अनेक शिखरो के बीच गौरीशकर की तरह सबसे ऊपर विद्यमान है और जिसमे उस कवि की अदृश्य-दर्शिनी कल्पना का चमत्कार है जिसने चालिस वर्षो की गहरी और लम्बी समाधि मे काव्य-कला के एक-एक रेशे की परीक्षा की और इस बात का पूरा ध्यान रखकर

अपनी सबसे बडी कृति का निर्माण किया कि किस स्तर की अनुभूति किस प्रकार की शैली मे व्यक्त की जा सकती है तथा रचना की प्रक्रिया के समय जब कवि का मन खूबसूरती, मिठास और पच्चीकारी के मोह मे पड़कर मूल लक्ष्य से भटकने लगता है तब कवि को योग की किस मुद्रा का सहारा लेना चाहिये। मैने 'सावित्री' के कई भागो को पढा है और कुछ भागो को एक से अधिक बार भी पढा है। किन्तु, 'सावित्री' के सारे अर्थ मुझ जैसो के हाथ नही लगते। तब भी जितना कुछ हाथ आता है वह तन्मयता की स्थिति को उत्पन्न करने मे पूर्ण रूप से समर्थ है तथा उन धूँधली पक्तियो के भीतर से एक नयी दुनिया भी दिखलायी पडने लगती है। सावित्री-काव्य समय से पूर्व अवतीर्ण हुआ है अथवा सम्भव है कि उसका समय आसन्न हो। अपने निबन्ध मे श्री अरविन्द ने कहा है कि उनकी कल्पना का भावी काव्य तभी लिखा जायगा, जब युग और जातियाँ उसके लिए प्रस्तुत हो गयी होगी। किन्तु, विकास के नेता-कवि की हैसियत से उन्होने उस कविता का आरम्भ, कदाचित्, समय से कुछ पूर्व ही कर दिया। फिर भी ऐसा नही है कि 'सावित्री' का सारा कवित्व हमसे दूर रह जाता हो। उसके भीतर एक पौराणिक कथा का सूत्र है तथा जो लोग श्री अरविन्द की विचार-धारा से परिचित है वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार उससे आनन्द और आलोक अवश्य ग्रहण कर सकते हैं।

कहते है, 'सावित्री' की रचना मे पैंतीस वर्ष लगे है और यह लगभग छह बार आदि से अन्त तक फिर से लिखी गयी है। इन सशोधनो का लक्ष्य काव्यात्मक दुर्बलताओ का अपहरण नही था, बल्कि, इस दीर्घ अवधि मे श्री अरविन्द ज्यो-ज्यो विकास के पथ पर ऊपर उठते गये, त्यो-त्यो 'सावित्री' मे और भी उन्नत स्तर की चेतना भरने के निमित्त उन्हे उसे फिर से लिखना पडा। 'सावित्री' काव्य का आरम्भ 'उर्वशी' एवं 'प्रेम और मृत्यु' नामक कविताओ के बाद ही और, प्रायः, उसी मन.स्थिति मे हुआ था जिसका प्रमाण अब भी कही-कही वर्त्तमान है।

Measuring vast pain in his immortal mind

[Love and Death]

Time like a snake coiling among the stars

[Urvasie]

इन पक्तियो मे चेतना की जो धारा विलास करती हुई मिलती है उसकी छाया 'सावित्री' मे भी जहाँ-तहाँ विद्यमान है। किन्तु श्री अरविन्द जब चेतना के इस स्तर से ऊपर चढ गये, 'सावित्री का आमूल सशोधन अनिवार्य हो गया। जिस स्तर पर पहले वे केवल समाधि के क्षणो मे पहुँचते थे, वह स्तर जब उनके लिए स्वाभाविक हो उठा, तब यह उचित ही था कि अपने सर्वश्रेष्ठ काव्य को वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि के अनुरूप बना दें। इस व्याख्या से यह निष्कर्ष ध्वनित होता है कि यदि

'सावित्री' का वह सस्करण प्रकाश मे आ जाय, जिसे महर्षि ने पहले-पहल लिखा था तो, कदाचित् अरविन्द की कारयित्री प्रतिभा के विकास की रेखाएँ अधिक स्पष्ट हो जायँ। किन्तु, यहाँ यह खतरा है कि तब, शायद, 'सावित्री' उस ध्येय को चरितार्थ नही कर सकेगी जिसके लिए महर्षि ने उसे विश्व के हाथो मे अपने अन्तिम दान के रूप मे छोडा है। और, शायद, यह इसलिए भी ठीक नही होगा कि 'सावित्री' जिस रूप मे मनुष्य को उपलब्ध हुई है, उस रूस मे वह श्री अरविन्द के सहस्रार की रचना है, उसमे चेतना के उस स्तर का सौरभ लिपटा हुआ है जिस स्तर पर पहुँचकर उसका नेता-कवि निर्वाण को प्राप्त हुआ है।

जो सुधी 'सावित्री' की गहराइयो मे काफी नीचे उतर चुके है, उनका कहना है कि यद्यपि 'सावित्री' की कविता मन्त्र-काव्य है और यद्यपि उसका वातावरण वेदो और उपनिषदो का वातावरण है, तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'सावित्री'-काव्य की आत्मा जिस स्तर पर भ्रमण करती है उसपर वेदो और उपनिषदो के रचयिताओ के चरण नही पडे थे। जिस स्तर पर चढकर ऋषियो ने उपनिषदो का गान किया था, उसी स्तर पर महर्षि अरविन्द भी थे। किन्तु, इस स्तर से श्री अरविन्द ने जो-कुछ देखा, वह प्राचीन काल के ऋषियो को दिखलायी नही पडा था*।

अतीत को पुकारकर भविष्य की ओर चलने का 'सावित्री' मे स्पष्ट सकेत है और यह सकेत उसके सक्षिप्त कथानक मे ही परिव्याप्त मिलता है। सावित्री और सत्यवान की कथा महाभारत मे आयी है जिसके माध्यम से वेदव्यास ने प्रेम और मृत्यु के सघर्ष की भीपणता चित्रित की है। सावित्री ने यह जानते हुए भी सत्यबान का वरण किया था कि वह शीघ्र ही काल के कवल मे पडनेवाला है, अतएव, श्री अरविन्द ने सावित्री को जीवन-शक्ति के सकल्प की मूर्त्ति मानकर उसे अपने काव्य की नायिका चुना। सावित्री शब्द का आदिम अर्थ भी सूर्यवाचक है, अतएव, महर्षि ने सावित्री के रूप मे जीवन की अपराजेय ज्योति देखी जो मृत्यु के अन्धकार को भेदने के लिए कृतसकल्प है। सावित्री ने अपने सकल्प के जोर से अपने पति को मृत्यु के मुख मे से निकाल लिया, जिसका सीधा अर्थ यह होना चाहिये कि मनुष्य चाहे तो स्वय भी मृत्यु से बच सकता है है तथा अपने प्रिय पात्रो को भी बचा सकता है, किन्तु, प्राचीन ऋषि इस सिद्धान्त मे, सचमुच, विश्वास करते थे या नही, इसका कोई प्रमाण नही है। कदाचित् इस कथा के भीतर एक कल्पना का

*ऐसे मत शुद्ध श्रद्धा की अभिव्यक्ति हैं अथवा उनका साहित्यिक महत्त्व भी है। इसकी परीक्षा मे अभी कुछ विलम्ब है, क्योकि जो लोग ससार के विभिन्न देशो मे आज साहित्य का नयन कर रहे है, उनका ध्यान अभी सावित्री की ओर नही गया है।

आभास मात्र है जिसे ऋषियो ने अपनी सहज ज्ञानशक्ति (Intuition) के बल पर प्राप्त किया था, किन्तु, जिसे वे व्यावहारिक रूप नही दे सके। वही कल्पना श्री अरविन्द के मन मे भी थी और वे विश्वास करने लगे थे कि मनुष्य के आधिभौतिक ढाँचे को विध्वस्त कर देना मृत्यु के सनातन अधिकार की बात नही है। मनुष्य कभी मृत्यु पर भी विजय पाने योग्य हो सकता है। अपनी इसी अनुभूति की सिद्धि उन्होने 'सावित्री' काव्य मे की है और एतत्सम्बन्धी अपने सारे अनुसन्धानो को आध्यात्मिक काव्य की अलौकिक किरणो के समान उन्होंने इस अनुभूति के चारो ओर गूँथ दिया है।

यह इस महाकाव्य का कथानक है, किन्तु कथानक से बढकर महत्त्वशाली तो उसका चित्रण होता है और 'सावित्री' मे रूप और भाव जिस ढग से चित्रित हुए है, वह अरविन्द की भी पहले की कृतियो को देखते हुए बिलकुल नवीन है। ऊपर हम 'उर्वशी के चित्रण का उदाहरण दे चुके है। 'सावित्री' का आरम्भ भी 'उर्वशी'-काल मे ही हुआ था, किन्तु, चेतना के स्तर-परिवर्तन से 'उर्वशी' और 'सावित्री' के रूप-चित्रण मे कितना भेद पड़ गया है, यह 'सावित्री' के निम्नलिखित स्वरूप-वर्णन से विदित होगा।

A body like a parable of dawn
That seemed a niche for veiled divinity
Or golden temple doors to things beyond.
Her look, her smile awoke celestial sense
Even in Earh-stuff and their intense delight
Poured a superoal beauty on men's lives.

× × ×

The whole world could take refuge in her singleheart.
The great unsatisfied godhead here could dwell.

× × ×

For even her crevíces were secreceɪs of light.
At once she was the stillness and the word,
A continent of self-diffusing peace,
An ocean of untrembling virgin fire.

'सावित्री' काव्य मे सौन्दर्य का जो सागर लहरा रहा है, पाठको को उसका दर्शन कराना इस छोटे से निबन्ध मे सम्भव नही है। उसके लिए धैर्य के साथ प्रगाढ अध्ययन करने एव पद-पद पर छोटी-बडी तन्मयताओ मे जाने की आवश्यकता है। तब भी नीचे की कुछ पक्तियो को देखकर पाठक अनुमान कर सकेंगे

कि 'सावित्री' किस धरातल की रचना है तथा जिस कवि ने कविता के आदर्श की कल्पना मन्त्र के रूप मे की थी, उसके हृदय से काव्य की पंक्तियाँ किस भगि के साथ नि सृत हुई है।

A thought was sown in the unsounded void·
A sense was born within the darkness's depths,
A memory quivered in the heart of time
As if a soul long dead were moved to live

× × ×

Power laid its head upon the breasts of bliss

× × ×

She has lured the Eternal into the arms of Time.

× × ×

In moments when the inner lamps are lit
And the life's cherished guests are left outside.
Our spirit sits alone and speaks to its gulfs

× × ×

Then flaming from her body's nest alarmed
Her violent spirit soared at Satyavan·

× × ×

Delight shall sleep in the cloud-net of her hair
And in her hody as on his homing tree
Immortal Love shall beat his glorious wings.

× × ×

Straining closed eyes of vanished memory
Like one who searches for a bygone self
And only meets the Corpse of his desire

× × ×

And sighing she laid her hand upon her bosom
And recognised the close and lingering ache
Deep, quiet, old, made natural to its place

अन्त मे, इस लेख को मैं श्री कृष्णप्रेमी के एक विश्लेपण के उद्धरण के साथ समाप्त करता हूँ कि अत्यन्त आदिकाल मे कविता जाति का मन्त्र समझी जाती थी और कवि उसके द्रष्टा कहलाते थे। यह उस समय की बात है जबकि आत्मचैतन्य

मस्तिष्क का उत्थान नही हुआ था और मनुष्य जहाँ एक ओर प्रकृति के समीप था, वहाँ दूसरी ओर वह परमसत्ता का भी सामीप्य अनुभव करता था। उन दिनो जो कविताएँ लिखी जाती थी, उनका उद्देश्य अदृश्य का प्रत्यक्षीकरण यानी Revelation होता था और कविता का माध्यम अपनाने वाले सभी लोग द्रष्टा, नबी और अदृश्य के सदेशवाहक समझे जाते थे। आगे चलकर जब आत्मचैतन्य मस्तिष्क (Self-conscious Mind) का उत्थान हुआ, सहजज्ञान से देखी जानेवाली वास्तविकता खण्ड-खण्ड होकर गिरने लगी। मस्तिष्क ने जीवन की सामग्रियो को दो भागो मे विभक्त कर दिया और जो भाग आधिभौतिक जीवन के लिए अधिक आवश्यक था, उसे लिपिबद्ध करने के लिए उसने गद्य के माध्यम का आविष्कार किया। इस प्रकार, कविता बेचारी अपना गौरव खोकर निस्व एव हृतसर्वस्व हृदय की पूँजी बन गयी और उसके भीतर अतृप्त कामनाओ, अपूर्ण इच्छाओ तथा गर्वोद्धत मनुष्य की मनुहार के लिए सस्ती रगीनियो की भरमार होने लगी। वर्जिल और दान्ते, मिल्टन और ब्लेक ने कविता को इस दैन्य से उठाकर ऊपर ले जाने की चेष्टा अवश्य की, किन्तु मनुष्य का भाव नही बदला। वह बुद्धि की आराधना मे लीन रहने के कारण हृदय की अधिकाधिक अवज्ञा करता गया और इस प्रकार, हृदय और मस्तिष्क के बीच की खाई और भी चौडी होती गयी। जीवन के सोते मे जो जल बह रहा था वह बुद्धि की पूँजी और मस्तिष्क का अर्जन था। कविता बहुत दिनों से इस प्रवाह के ऊपर इन्द्र-धनुष बनकर खडी थी, क्योकि इन्द्रधनुष बनकर खडी रहने को छोडकर उसके सामने और कोई चारा नही था।

सौभाग्य की बात है कि श्री अरविन्द ने 'सावित्री' काव्य के द्वारा हृदय और मस्तिष्क के बीच की इस खाई को पाट दिया है।

*

कला के अर्धनारीश्वर

नयी समीक्षा का आग्रह है कि साहित्य की परीक्षा ऐतिहासिक प्रक्रिया के आधार पर मत करो, क्योकि साहित्य की जो अपनी विशेषता है वह साहित्येतर-ज्ञान के द्वारा परखी नही जा सकती*। बात कुछ दूर तक सही मालूम होती है, फिर भी वह बिल्कुल सही नही है, क्योकि साहित्य न तो ऐसी कला है जो समय, परिस्थिति और समाज के प्रभावो से मुक्त हो और न कवि ही ऐसा प्राणी होता है जिस पर शिक्षा-दीक्षा और सस्कार का असर नही पडता हो। ईलियट ने जो यह कहा है कि अतीत का एक अश वर्त्तमान बन जाता है तथा भविष्य और वर्त्तमान, दोनो ही, कुछ दूर तक अतीत मे छिपे रहते है,† वह उक्ति बहुत दूर तक साहित्य पर भी लागू की जा सकती है। आज के धुंधले विचार कल प्रकाशमान होगे और कल जो चिनगारियाँ मन्द एव प्रच्छन्न थी, वे ही आज किरणे बनकर चमक रही है। कारीगरी और संगतराशी की तरह साहित्यकला के भी अपने कानून है, जिनका आश्रय लिये विना साहित्य के कलापक्ष की व्याख्या नही की जा सकती, किन्तु, जिस द्रव्य पर यह कारीगरी की जाती है वह बराबर समय, समाज और सस्कार के भीतर से आता है। यही नही, बल्कि प्रत्येक नया द्रव्य अपनी अभिव्यक्ति मे भी कुछ-न-कुछ नवीनता लिये आता है और प्रत्येक प्रभावशाली नवीन कवि हमे यह सोचने को मजबूर करता है कि कविता की वह परिभाषा काफी है या नही जिसे हमने पहले के कवियो को देखकर बनाया था।§ आलोचना की बदलती हुई रूपरेखा के पीछे, असल मे, उन कवियो का व्यक्तित्व काम करता है जो अपने पूर्वज और समकालीन कवियो से भिन्न होते है। कविता

---

*—Theory of Literature by R Vellek and A. warren (chapter IX)

†—Time present and time past,
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past.
(Burnt Norton)

§—Modern Poetry & Tradition by Cleanth Brook.

मे शैली और द्रव्य के बीच विभाजक रेखा नही खीची जा सकती*। लेकिन, विचार की सुगमता के लिए यह कहा जा सकता है कि काव्य का प्रभाव केवल द्रव्य या भाव पर ही नही पडता, उसका प्रभाव उस द्रव्य की अभिव्यक्ति करनेवाली भाषा मे भी लक्षित होता है। दरअसल, काव्य का इतिहास, बहुत दूरतक, भाषा और शैली मे होनेवाले परिवर्त्तनो का इतिहास है। समय की विशेष प्रकार की ऐंठन, समाज के हृदय मे गूँजनेवाले विशिष्ट भाव और वैयक्तिक एव सामूहिक चेतना की विशिष्ट लहरे अपनी अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट प्रकार के माध्यम की खोज करती है। अतएव, जब कोई नया एव समर्थ कवि काव्य के क्षेत्र मे प्रवेश करता है तब उसके साथ केवल कुछ नये भाव ही साहित्य मे नही आते, वरन्, अभिव्यजना की भी एक नयी अदा उसके साथ आती है। अतएव, काल के पृष्ठाधार पर साहित्य की परख, उसमे आनेवाले नये भावो की ही परख नही, कुछ दूर तक उन शैलियो के उद्गम की भी खोज है जो इन भावो की सुष्ठु अभिव्यक्ति के लिए रूप ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक पृष्ठाधार

रवीन्द्र और इकबाल के सम्बन्ध मे यह पृष्ठाधार १९वी सदी मे होनेवाले सास्कृतिक जागरण या रिनासाँ पर जाकर टिकता है जिस रिनासाँ का तेज इन दोनो कवियो मे प्रत्यक्ष हुआ है। इस रिनासाँ की दो प्रमुख विशेषाताएँ दूर से ही दिखायी पडती है। एक तो यह कि भारत के मन पर योरोप की उद्दामता, उसकी जीवन को सत्य समझने की दृष्टि तथा परलोक की चिन्ता मे इस लोक की उपेक्षा नही करके इसे ही स्वर्ग बनाने के भाव का विशेष रूप से प्रभाव पडा†। दूसरी यह कि इस रिनासाँ के समय भारतीय संस्कृति के कुछ प्राचीन सत्यो ने दुबारे जन्म लिया§ और भारतवासी हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही, अपनी प्राचीन संस्कृतियो के सार को योरोप से मिलनेवाले गतिपूर्ण ज्ञान के साथ एकाकार करके आगे बढे। यह सास्कृतिक जागरण इतिहास मे हिन्दू-रिनासाँ के नाम से विख्यात है, क्योकि इसके मुख्य नेताओं में से राममोहनराय, दयानन्द, केशवचन्द्र, रामकृष्ण और विवेकानन्द, सब के सब, हिन्दू थे। किन्तु, सत्य यह है कि यह रिनासाँ केवल हिन्दू-समाज तक ही सीमित नही था। इसका प्रभाव मुसलमानो पर भी पड़ रहा था।

*—Theory of Literature.

†—Modern India & the West: Edited by L. S. S. O-Malley. लार्ड मेस्टन की भूमिका।

§—वही : सर राधाकृष्ण का लेख।

तत्कालीन मुस्लिम समाज के भीतर से, गरचे, बहुत बड़ी-बड़ी हस्तियाँ नहीं निकलीं, फिर भी रिनासाँ का जो प्रभाव मुस्लिम समाज पर पड़ रहा था, उसका प्रतिनिधित्व सर सैयद अहमद खाँ और हाली ने काफी योग्यता से किया और उनके व्यक्तित्व से मुसलमानो के बीच रिनासाँ के प्रसार मे यथेष्ट सहायता मिली। इसके सिवा, वहाबी-आन्दोलन तथा अफगान के द्वारा संचालित आन्दोलन भी बहुत अंशों मे सांस्कृतिक थे और उन्हे भी रिनासाँ से सम्बद्ध मानना चाहिये।

सच पूछिये तो जहाँ तक योरोप से आनेवाली विद्याओ का सवाल था, हिन्दू और मुसलमान उनसे समानरूप से प्रभावित हो रहे थे। फिर भी इस रिनासाँ का रूप एक दूसरे क्षेत्र मे विभक्त हो रहा था क्योंकि अपने प्राचीन सत्यों की खोज मे अतीत की ओर देखते-देखते हिन्दू वेद की ओर भागे जा रहे थे तथा मुसलमान कुरान की ओर · और धीरे-धीरे दोनो जातियो का जोर उन बातों पर पडता जा रहा था जो उन्हे एक दूसरे से अलग करनेवाली थीं, उन पर नहीं जिनसे उनके बीच की चौड़ाई कुछ कम हो सकती थी। नतीजा यह हुआ कि जब सुधरा हुआ हिन्दुत्व खुलकर प्रकट हुआ तब उसके एक हाथ मे वेद और उपनिषद् तथा दूसरे मे विज्ञान की मशाल थी, एवं जब इस्लाम अपनी नींद से जगा तब उसके भी एक हाथ मे विज्ञान की मशाल और दूसरे में कुरान-पाक के साथ अरबी संस्कृति का सपना था जिस संस्कृति की पवित्र मिट्टी पर इस्लाम ने जन्म लिया था।

हिन्दू-रिनासाँ के चोटी के नेताओ मे से रामकृष्ण शुद्ध सन्त थे और सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने के कारण उनके भीतर हिन्दुत्व एक विश्वधर्म के पृष्ठाधार का रूप ले रहा था*।

विवेकानन्द, यद्यपि, सन्यासी थे, फिर भी, उनमे राष्ट्रीयता का स्पष्ट तेज था। लेकिन, वे भी हिन्दुत्व को विश्वधर्म के पृष्ठाधार के रूप मे ही उपस्थित करना चाहते थे।

राजा राममोहन राय समाज-सुधारको मे अग्रण्य थे। किन्तु, ब्रह्मसमाज की संस्थापना के कारण इतिहास उन्हे भी एक धार्मिक नेता के रूप मे अधिक याद करता है।

ये तीनो के तीनो नेता बंगाल मे उत्पन्न हुए थे जहाँ की संस्कृति मे वैष्णव-पदावलियो की मधुरता भली-भाँति पच चुकी थी। अतएव, यह स्वाभाविक था कि जिस भूमि को इन महापुरुषो ने सींचा था उसमे उत्पन्न होनेवाला प्रतिनिधि-कवि विश्वधर्म का द्रष्टा, विश्वमानवता का प्रेमी और काव्य मे माधुर्य-गुण का

*—वही :

उपासक हो तथा उसकी राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता मे कोई भेद नही रहे। हिन्दू-रिनासाँ के इन प्रमुख नेताओ में से केवल दयानन्द ही ऐसे हुए, जिनमें कर्मठता का भी कुछ जोर था। बाकी सब-के-सब विशुद्ध आदर्शवादी और माधुर्य के उपासक थे। इस अनुमान का समर्थन इस बात से भी मिलता है कि बीसवी सदी मे जब कर्म का व्यापक क्षेत्र तैयार हुआ, तब उसमे दयानन्द के अनुयायी तो अच्छी सख्या मे आये, किन्तु, आदर्शवादियो का दल, प्रायः, किनारे पर से ही आशीर्वाद देता रह गया।

ब्रह्मसमाज का जन्म ही ज्ञान और सस्कृति के ऊँचे स्तर पर मनुष्यमात्र की एकता को प्रोत्साहित करने के लिए हुआ था तथा आदि से अन्त तक, वह एव बौद्धिक आन्दोलन के समान था जिसके अनुयायियो की धाक उनकी सख्या के कारण नही, बल्कि, धनमान, पद-प्रतिष्ठा और बौद्धिक योग्यता को लेकर थी*। ब्रह्मसमाज की प्रेरणा सामान्य जनता की अनुभूति से नही आयी थी और न समाज के भौतिक सघर्षों से उसका कोई सरोकार था। उसे एक बौद्धिक प्रयोग ही समझना चाहिये जिसके अधीन उसके नेता अनेक धर्मो से रस-सचय करके मनुष्यमात्र के लिए एक नूतन मधुचक्र तैयार कर रहे थे। राममोहन राय पर ईसा की नैतिक शिक्षाओ के अलावे, इस्लाम के तौहीद का भी पूरा असर था। रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने तीन वर्षों की समाधि मे सूफीवाद और योरोप के विवेकमय दर्शन को मथकर एकाकार कर दिया था। स्वय केशवचन्द्र सेन ने भी यह घोषणा की थी कि उनका आधा हृदय एशिया के साथ और आधा योरोप के साथ है†। अतएव, कोई आश्चर्य नही कि इन घटनाओ की कविता लिखने के लिए बगाल मे रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ जिनका द्रव्य जीवन नही, बल्कि, जीवन के व्योम मे फैली हुई दर्शन की सुरभि हुई, जिनका आराध्य राष्ट्रीय नही, अन्तरराष्ट्रीय मनुष्य हुआ तथा जिनका स्तर ब्रह्मसमाज का वही स्तर रहा जो अपनी ऊँचाई के कारण धरती की धूल और जिन्दगी की कराह की पहुँच से परे था।

सर सैयद और मौलाना हाली के सामने इस्लाम को विश्वधर्म से एकाकार करने की समस्या नही थी। ईसाइयत के आगमन से हिन्दुत्व जितना घबराया था, इस्लाम को उतनी घबराहट नही हुई थी। वह ईसाइयो का जाना-पहचाना

---

*—Their followers were strong, not in numbers, but in rank, influence and intellectual attainments.

—Modern India and the west : L. S. S. O Malley का लेख।

†—Modern India and the West.

हुआ धर्म था। इसके सिवा, इस्लाम अभी-अभी राज्य-सिंहासन से नीचे आया था, उसे इस बात का जरा भी तजुर्बा नही था कि गुलामी की वेदना कैसी होती है। इसके विपरीत, हिन्दुत्व के कई सौ वर्ष गुलामी मे बीत चुके थे और अब वह और कोई साधन नही पाकर अपनी आत्मा की तेजस्विता से ही उन लोगो को जीतने की कोशिश मे था जो उसके शरीर पर नयी मुश्कें कस रहे थे।

इस्लाम के नेताओ को अगर कोई चिन्ता थी तो यह कि बदली हुई परिस्थिति मे मुसलमान क्या करे। अभी कल तक वे भारत के शासक थे। मगर, अब जो परिस्थिति उनके सामने आ गयी थी उससे बाहर निकलने का रास्ता था हिन्दुस्तान की अन्य जातियो से मेल और उनके कधे से कधा मिलाकर खोई हुई सल्तनत को वापस लाने की कोशिश करना। मगर, यह रास्ता जमहूरियत का रास्ता था जिसमे अधिकारो का उपभोग सख्या के अनुपात से ही किया जाता है और दुर्भाग्यवश, मुसलमानो को यह विश्वास नही हो सकता था कि प्रजासत्ता के अन्दर मुसलमानो की अवस्था एक महज "माइनारिटी" से कुछ भी अच्छी होगी। यह मेरा अनुमान है। सभव है, और भी बहुत-से कारण रहे हो। लेकिन, सच बात तो यह है कि जब हिन्दू और मुसलमान अपने पीछे की ओर देखते-देखते वेद और कुरान पर आसक्त हो रहे थे, तब हिन्दुओ की दृष्टि तो इतिहास के गह्वर से टकराकर वर्त्तमान की भूमि पर लौट आयी, चूँकि, उसके आगे अब कोई मार्ग नही था, किन्तु मुसलमानो की भावना एक तरह के रहस्यवाद के फेरे मे पडकर असन्तुष्ट रहने लगी और जब तब एक प्रकार के अस्पष्ट बृहत्तर इस्लाम का सपना उसे मोहित करने लगा*। रिनासाँ के काल की मुस्लिम जनता का कोई अच्छा हाल नही था। हिन्दू और मुसलमान साथ रहते आये थे, उन्होने गदर के समय साथ मिलकर अपने समान शत्रु का सामना भी किया था और कई सौ वर्षों तक साथ रहने के कारण उनकी कुछ समान परम्पराएँ और विरासतें भी बन गयी थी। ये सारी बातें इस चीज की दलील थी कि हिन्दू और मुसलमान एक है तथा राष्ट्रीयता उनका समान धर्म है। किन्तु, फिर भी कोई बात थी जो उन्हे चौकन्ना रखती थी, दिल के भीतर कोई दर्द था जिसका उन्हे स्वयं भी पता नही था, उपचेतन के भीतर कोई गूँजती हुई आवाज थी जिसे वे सुन नही पाते थे। अतएव, रिनासाँ से जन्मे हुए मुस्लिम समाज को एक ऐसे कवि की आवश्यकता हुई जो उसके उपचेतन की आवाज को सुनकर उसका सही मानी उसे बतला सके; जो उसकी मजिल की परिभाषा करके उसे उस ओर बढने की प्रेरणा दे सके; जो कोई ऐसा दर्शन तैयार कर सके जिससे

*—A secular state for India by Lanka Sundaram.

भौगोलिक राष्ट्रीयता के बदले धार्मिक या सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का सिद्धान्त निरूपित और पुष्ट होता हो। १९वी सदी के मुस्लिम-समाज ने जैसी कठिन उलझनो को लेकर अपने कवि की इन्तजारी की, वैसी उलझनो को लेकर किसी भी देश के किसी भी समाज ने किसी भी कवि की राह नही देखी होगी। यह काम दार्शनिको के बूते से बाहर था, क्योकि दर्शन के शब्दो मे न तो पख ही होते हैं कि वे तुरन्त लोगो के दिलो मे पैठ जायँ और न उनसे खुशबू ही निकलती है जिससे खिचकर लोग आप-से-आप उसके पास चले आवें। यह काम राजनीतिज्ञो की भी शक्ति के बाहर था, क्योकि कोई भी राजनीतिज्ञ ऐसा नही हो सकता जो एक शब्द मे एक अध्याय और एक मिसरे मे पूरी किताब कह डाले। अखबार के कालमो मे भी कोई ऐसी स्पीच नही छपती जिसे लोग कुरआन की तरह बगल मे बाँधकर साथ लेते फिरें। इकबाल ने बडा ही कठिन काम पूरा किया है और जो लोग यह कहते है कि वे कवि नही होकर केवल राजनीतिज्ञ थे, वे शायद इस रूढि से ग्रसित हैं कि हर हालत मे साहित्य राजनीति की गन्धमात्र मे दूषित हो जाता है।

शायद, यह भी इतिहास के क्रम मे ही एक निश्चित बात थी कि इकबाल उन सभी कवियो से भिन्न हो, जिन्हे देखने और सुनने के मुसलमान आदी रहे थे। मुसलमानो को एक ऐसे कवि की आवश्यकता थी जो उन्हे अपने साथ हँसी-मजाक करने की आजादी नहीं दे; जिसे वे अपना गायक ही नही, बल्कि, इमाम भी समझे और जो उनके ध्यान को सस्ती चीजो से हटाकर उस ओर ले जाय जहाँ इस्लाम की आरम्भिक गरिमाएँ [गरीबी का फख्र, मकसद के लिए मर मिटने की उमग और चेतना का सूफियाना विस्तार] दमक रही थी। इस कवि के लिए यह भी आवश्यक था कि वह सगतराश नही होकर जिन्दा पत्थरो का पारखी हो और कारीगरी के फेरे मे वह इतना तो पडे ही नहीं कि जब तक वह छेनी से पत्थरों की नोक ठीक करने मे लगा हो, तबतक उसके दिल की आग ही मद्धिम पड जाय। इकबाल के सामने जितना कठोर और महान लक्ष्य था उसे देखते हुए अचरज की बात यह नही दीखती कि इन्होने साहित्य के नियमो और रीतियो की अवहेलना की; बल्कि, अचरज की बात तो यह समझी जानी चाहिये कि साहित्य की परपराओ को तोडकर भी वे कवि कैसे बने रहे, उनकी कविताएँ गद्यात्मक होकर क्यो नही रह गयी, उनमे रस का अभाव और चमत्कार की कमी क्यो नही आयी तथा उनकी पंक्तियाँ मनुष्य के हृदय को झकझोरने मे इतनी समर्थ कैसे हो गयीं। क्या यह क्षणस्थायी प्रभाव है और इकबाल को सौ-पचास वर्षों के बाद लोग भूल जायेंगे? क्या इकबाल का तेज समकालीनता का तेज है और सनातनता के सामने वह नही टिक सकेगा? क्या उनकी कविताओ का ओजपन साहित्य की

वक्रोक्ति का पर्याय नही ? क्या उनके शेरो से फूटनेवाली रोशनी वही रोशनी नही है जिससे कवियो के अक्षर और शब्द सैकडो बरस तक जगमगाते रहते है ? कदाचित्, ऐसी चिन्ता ही फिजूल है, क्योकि इस प्रकार का निर्णय आनेवाली सन्ततियाँ ही कर सकती हैं। यह भी सभव है कि इकबाल आज जिन गुणो के लिए प्रशसित और पूजित हो रहे हैं, अगले जमाने मे उनके बदले वे कही अन्य कारणो से प्रशसित हों।

रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ का जन्म एक कलाप्रिय वश मे हुआ था जिसमे सौन्दर्य के सिवा, विश्वबन्धुत्व और औपनिषदिक ज्ञान की भी चर्चा प्रधान थी। उत्तराधिकार मे उन्हे बँगला के वैष्णव कवियो की कोमलकान्त पदावलियाँ भी मिली थी। अतएव, आरम्भ से ही वे सौन्दर्य की उपासना की ओर बढने लगे और जब उनके मुख से धार्मिक अनुभूतियाँ व्यक्त होने लगी तब वैष्णव-कवियो का प्रभाव भी स्पष्टरूप से लक्षित होने लगा।

रवि बाबू के लिए यह बडा ही अनुकूल रहा कि जो परपराएँ उन्हे विरासत के रूप मे मिली थी, उनका कोई निश्चित अथवा स्थूल उद्देश्य नही था और काव्य की भूमि से बाहर रहने पर भी वे बहुत कुछ कविता के ही समान तरल और सूक्ष्म थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता, निरजन और निराकार की उपासना, सभ्यता और सस्कृति को सुन्दर से सुन्दर और कोमल से कोमल बनाने का प्रयास, ये ऐसे कार्य नही है जिनका कोई स्थूल उद्देश्य ढूँढा जा सके। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि रवि बाबू का कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी इस परपरा के स्वभाव से मिलता-जुलता हो। कला की परिभाषा करते हुए उन्होने कहा है-कि आत्म-रक्षा अथवा जाति-रक्षा के लिए जितने ज्ञान और प्रयास की आवश्यकता है, उतना ज्ञान और प्रयास मनुष्य तथा पशु मे समान रूप से पाया जाता है। किन्तु, इस आवश्यकता की परिधि मे बाहर भी एक भूमि है जिसमे पशु नही जा सकता, केवल मनुष्य ही जाता है और अपने ज्ञान तथा प्रयास के द्वारा इस भूमि मे वह जो आनन्द उठाता है वह उसके "बायोलॉजिकल" अस्तित्व या विकास के लिए तनिक भी आवश्यक नही है। इस आनन्द का लक्ष्य केवल आनन्द है। दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होने यह भी कहा है कि यह बहुत कुछ वैसी ही बात है जैसे कोई व्यक्ति इतना धनी हो जाय कि अपनी जरूरते पूरी करने के बाद भी उसके पास बहुत-सा धन बच रहे। इस धन को वह अपने किसी उपयोग मे तो नही ला सकता, फिर भी धन की स्थिति-मात्र से अपने को धनी समझने मे जो एक सुख है, वह धन के उपयोग से प्राप्त होनेवाले सुखो से भिन्न होता हुआ भी सुख

ही कहा जायगा। जो अनावश्यक है, जिसका कोई उद्देश्य नही, वही भूमि कला की जन्मभूमि है और उसी भूमि मे कला विकास पाकर फूलती-फलती है। रवीन्द्रनाथ कला को इसी रूप मे मानते थे और यद्यपि "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त की निन्दा उनके समय मे खूब हो रही थी, मगर, वे बड़ी ही निर्भीकता के साथ इस सिद्धान्त का समर्थन करते रहे। केवल समर्थन ही नही, अपनी तमाम कृतियो के भीतर उन्होने अपना जो रूप रखा है, वह निरुद्देश्य गीत गानेवाले "पलातक बालक" का ही रूप है।

संसारे सबाइ यबे सारा क्षण शत कर्मे रत,
तुई शुधू छिन्नबाधा पलातक बालकेर मतो,
मध्याह्ने माठेर माँझे एकाकी विषण्ण तरुछाये,
दूर गन्धवह मन्दगति तप्तवाये
सारा दिन बाजाइलि बाँशि।

[चित्रा . एबार फिराओ मोरे।]

रवीन्द्रनाथ को विरासत मे जो दुनिया मिली थी अथवा जिस विश्व की उन्होने अपने लिए रचना की वह आनन्द और सौन्दर्य का विश्व था। यह वह दुनिया है जिसे धूल और धुएँ से कोई वास्ता नही, यह वह संसार है जहाँ लोहे और पत्थर भी पिघलकर चाँदनी बन जाते है। मगर, धरती का चीत्कार भी असर रखता है और कलाकार चाहे जहाँ भी जाकर छिप जाय, वह इस चीत्कार को सुने बिना नही रह सकता। रवीन्द्रनाथ की चेतना अत्यन्त विकसित थी, अतएव, यह चीत्कार उन्हे स्वदेशी-आन्दोलन से भी बहुत पूर्व, उन्नीसवी सदी मे ही सुनायी पडा था जबकि अपने-आपको संबोधित करते हुए उन्होने लिखा था—

उ रे, तुई उठ आजि,
आगुन लेगेछे कोथा? कार शख उठियाछे बाजि
जागाते जगत जने? कोथा होते ध्वनिछे क्रन्दने
शून्यतल? कोन अन्धकारा माझे जर्जर बन्धने
अनाथिनी मांगिछे सहाय?

× × × ×

कवि, तबे उठे एसो यदि थाके प्राण,
तबे ताई लहो साथे, तबे ताई करो आजि दान।
बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार
बड़ोई दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र, बद्ध अन्धकार।

× × × ×

स्वर्गेर अमृत लागि पबे धन्य हवे मोर गान,
शत-शत असंतोष महागीते लभिवे निर्वाण।

[चित्रा . एबार फिराओ मोरे।]

'एबार फिराओ मोरे' नामक जिस कविता से ये उद्धरण लिये गये है, उससे स्पष्ट झलकता है कि रवि बाबू को देश की पीड़ाओ की बडी ही तीव्र अनुभूति हुई थी और उनमे यह उमग भी पैदा हुई थी कि बडे-बडे आदर्शों के हवाई महल को छोडकर नीचे के अपार लोगो के आँसू मे आँसू मिलाना भी कोई हेय कर्म नही है। "कहो कि अपना दुःख मिथ्या है, अपना छोटा सुख भी मिथ्या है। जो व्यक्ति स्वार्थ मे निमग्न होकर बडे जगत से दूर रहता है, उसने अभी जीना नही सीखा।" कविता पढते-पढते यह आशा बंध जाती है कि जब आरम्भ इतना बेधक और क्रान्तिकारी है तब अन्त मे भी कोई ठोस चीज अवश्य मिलेगी जिसकी रोशनी मे इन पीडाओ का निदान खोजा जा सके। किन्तु, ऐसे पाठको की आशा पूरी नही होती। ज्यो-ज्यो कवि कविता की समाप्ति के लिए पास आता है, त्यो-त्यो वह साकारता से उठकर निराकारता के बीच छिपने लगता है तथा अन्त मे वह केवल यह कहकर छुट्टी ले लेता है कि जीवन की सारी तृषाएँ एक महागान मे तृप्ति पावेगी। "शत-शत असन्तोष महागीते लभिवे निर्वाण"। यह रवीन्द्रनाथ की अपनी विशेषता हैं। वे पथ-प्रदर्शन की जिम्मेवारी लेने से घबराते है। मनुष्य को पीडाओ की ऐसी मार्मिक अनुभूति कर लेने के बाद भी, वे कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा नही दे सकते, केवल मानवता के लिए बलिदान करनेवालो की ऊँची प्रशस्ति गाकर लौट जाते हैं। उनकी दृष्टि मे कला का साम्राज्य यही तक है। इसके बाद की भूमि प्रचारको की भूमि है, उपदेशको का क्षेत्र है। कला तो अनावश्यकता की बेटी ठहरी। वह मनुष्य की आवश्यतावाली परिधि के उसी पार रहती है। जिस लक्ष्मणरेखा के भीतर जीवन की आवश्यकताएँ घिरी हुई हैं, उसे लांघकर भीतर आने मे कला को भय लगता है कि कही उसका रूप विकृत नही हो जाय। कवि के लिए विश्व-वेदना की अनुभूति भी स्वाभाविक है। किन्तु, इस अनुभूति से भी उसे एक प्रकार का आनन्द ही लेना है, जो कला और अभिव्यक्ति का आनन्द है।

"सहित्य की आत्मा आनन्द है—और वह भी ऐसा आनन्द जिसमे किसी भी उद्देश्य की गन्ध नही होती।"*

और जो वात रवीन्द्रनाथ कला के वारे मे कहते है वही व्यक्तित्व के वारे मे भी, क्योकि उनके मतानुसार कला और व्यक्तित्व एक ही वस्तु के दो नाम है

*Enjoyment is the soul of literature—the enjoyment which is disinterested. [Personality : By Rabindra Nath Tagore.]

और दोनो ही उसी भूमि मे विकास पाते है जो भूमि अनावश्यक या (Superfluous) है। जब तक मनुष्य आवश्यकता की परिधि से बाहर नही निकलता, तब तक न तो उसकी कला का निखार होता है और न उसका व्यक्तित्व ही बन पाता है।

"वैयक्तिक मनुष्य का अस्तित्व ही उस लोक मे होता है जहाँ पहुँचकर हम शरीर और मन, दोनो की, सभी प्रकार की आवश्यकताओ से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक उपयोग और मसलहत की दुनिया से कही ऊँचा और महान् है।"†

इस प्रसङ्ग को भी इन्होने दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए लिखा है कि स्त्री का व्यक्तित्व माता, बहिन या सखी-रूप मे नही, बल्कि, उसकी प्रसन्न मुद्रा मे, उसकी सजधज की रगीनी मे तथा उसकी गति की भगिमा और अदा मे है।

"नारी का जो असली रूप है, वह उसकी सजधज की चित्रमयता तथा वाणी एव गति की सगीतमयता में प्रकट होता है। नारी क्या है, इस जिज्ञासा का समाधान उसके उपयोगी होने मे नही, बल्कि, उसकी आनन्दमयी मुद्राओ में मिलेगा।§

और योद्धा का व्यक्तित्व भी उसके युद्धकौशल मे नही होता! युद्ध तो एक आवश्यक कृत्य है, अतएव, उसके भीतर से योद्धा के व्यक्तित्व की अभिव्यजना सभव नही हो सकती। व्यक्तित्व की अभिव्यजना के लिए उसे बाजे चाहिये, सजावट और पोशाक चाहिये।

"योद्धा में जो योद्धा होने की एक तीव्र चेतना है उसकी अभिव्यक्ति के बिना उसका व्यक्तित्व व्यंजित नही हो पाता, यद्यपि, इस चेतना की अभिव्यक्ति केवल अनावश्यक ही नही, कभी-कभी आत्मघातक भी हो सकता है।"*

जहाँ तक मुझे मालूम है, रवि बाबू के इस विचार मे कभी कोई परिवर्त्तन नही हुआ। आजकल के युग में कला के सम्बन्ध मे ऐसा विचार रखना ससारभर के

---

†Personal Man is found in the region where we are free from all necessity, above all needs, both of body and mind above the expedient and the useful. [Personality.]

§ She has to be picturesque and musical to Make manifest what she truly is. She is no to be judged merely by her usefulness. But, by her delightfulness. [Personality : what is art]

*He must give expression to the heightened consciousness or warrior in him which is not only unnecessary but in some cases suicidal. [Personality . what is art.]

आलोचकों को अपने सिर के बाल नोचने का निमन्त्रण देना है। और तब भी जिस हिम्मत और सफाई के साथ रवि बाबू अपने वाक्यो का प्रमाण छोड गये है, वही इस बात का सबूत बन जाती है कि कला को वे शुद्ध आनन्द का साधन और पर्याय मानते थे।

"कार्य से मुझे भगवान् के हाथो सम्मान और गीत से उनका प्रेम प्राप्त होता है"†

इससे व्यंजित होता है कि रवि बाबू कर्म की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते। किन्तु, दूसरी पंक्ति यह भी बतला देती है कि गान उन्हे अन्य किसी भी कर्म की अपेक्षा अधिक प्रिय है।

और गान से रवीन्द्रनाथ का तात्पर्य केवल उन्ही कविताओ से है जिनमे कर्म की प्रेरणा नही होती, जो मनुष्य को आनन्द छोडकर और कुछ नही देती है। अनुवाद की तो कोई बात ही नही, रवीन्द्र गद्य की अपेक्षा अपनी कविताओ मे महान् है और कविताओ से भी बढकर उनकी महत्ता उनके गीतो मे निखरी है। गीत, शायद, कविता का निचोड होता है। कथानक नही, कोई ऊँचा विचार नही, उपदेश और ज्ञानोद्गार नही, स्थिति और चरित्र-चित्रण भी नही, फिर भी गीत न जाने कैसे निकल आते हैं, क्यो वे कलेजे को इस कदर बेधते है और कैसे उनकी उम्र इतनी लम्बी होती है। बिहारी के दोहे जैसे गर्दन घुमाने, नासिका मोडने अथवा नृत्य की भगिमा से घूम जाने की अदा की तसवीर लिये आज तीन सौ वर्षों से ताजे चले आ रहे है, उसी प्रकार गीत भी, अधिक से अधिक, कवि की किसी मनोदशा को लेकर प्रकट होते है, वैसी ही मनोदशा पाठको मे उत्पन्न करके प्यारे बन जाते है और उसी मनोदशा को ताजा रखने के कारण जीवित रहते है। गीतो के भीतर ज्ञान की कोई बात नही रहती और न उनके अर्थो का कोई निश्चित आकार ही ठीक से पकड मे लाया जा सकता है। गीत कवि के मन की एक तरह की बेचैनी की तसवीर है। स्मृति का दर्शन, सौदर्य की चोट, किसी अस्पष्ट उमग की एक लहर अथवा मन का कोई धुँधला आवेग, ऐसी कोई भी बात कवि के भीतर एक प्रकार की मनोदशा को उत्पन्न करती है जिसकी अभिव्यक्ति शब्दो की ताकत के बल पर नही की जा सकती, क्योकि किसी भी भाषा मे ऐसे शब्द नही होते जो मनुष्य की इतनी सूक्ष्म मन स्थिति को ठीक-ठीक चित्रित कर सकें। फिर भी कवि जो शब्दो के माध्यम से ही उसे व्यक्त कर पाता है वह इसलिये कि शब्दो के साथ केवल अर्थ ही नही होते, उनमे

† God honours me when I work.
He loves me when I sing. [Tagore's Birthday number.]

गीतमयता और नाद भी होता है। असल में, गीतो मे नाद और अर्थ एकाकार हो जाते है, जैसा कि अक्सर सगीत मे हुआ करता है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि शब्द, जो अन्य कविताओ मे वर्णन का साधन रहते है, गीतो मे आकर खुद ही साध्य बन जाते है। मानना होगा कि काव्य की भूमि मे सफल गीतो की रचना बहुत ही बारीक काम है, क्योकि यहाँ कवि का चिन्तन और ज्ञान उसका सहायक नही होता, बल्कि, उसे केवल उन्ही शक्तियों से काम लेना पडता है जो उसे अन्य प्रकार के कलाकारो से भिन्न करती है। रवीन्द्र की कवि-प्रतिभा अथवा उनके बहुत बडे कलाकार होने मे जिन्हे सदेह हो वे एक बार उनके गीतो के कुंज मे प्रवेश करें जहाँ कविगुरु की शक्ति अपने पूरे चमत्कार के साथ विराजमान है।

अपनी शिक्षा-दीक्षा, नति और मति से रवीन्द्रनाथ जिस दुनिया के लिए तैयार हुए, वह इल्म नही, हुनर की दुनिया थी ; वह कर्म नही, चिन्तन का जगत था ; वह ज्ञान नही, गान का ससार था। रवीन्द्र-साहित्य के भीतर प्रवेश करने पर कर्म और कोलाहल का विश्व पीछे छूट जाता है। वहाँ आँसू नही, स्वेद नही, चीख और चिल्लाहट नही और न मध्याह्न के सूर्य का जलता हुआ ताप है। रवीन्द्र शीतलता के कवि हैं। वे मनुष्य या प्रकृति मे दाह के अस्तित्व को तटस्थ भाव से नही देख सकते। अपनी इस कविता मे रवि बाबू ने ग्रीष्मकाल की दोपहरी के जलते हुए सूर्य का चित्र खीचना चाहा है, किन्तु, दो-तीन पदो के बाद ही, आकाश मे पद्मासन पर बैठे हुए शीर्ण सन्यासी के त्राटक की मुद्रा मे तने हुए रक्त-नेत्र तथा नीचे प्यास से फटी हुई पृथ्वी को देखकर, वे मानो, अपनी कल्पना से आप ही घबरा उठे है और तुरन्त ही प्रार्थना आरम्भ कर दी है :—

हे वैरागी, करो शान्तिपाठ ;
तोमार गेरुआ वस्त्रांचल
दाउ पाति नभस्तले, विशाल वैराग्ये आवरिया
जरा मृत्यु-क्षुधा-तृषा, लक्ष कोटि नरनारि-हिया चिन्ताय विकल।

रवीन्द्रनाथ मधुरता के ऐसे उपासक है कि भगवान का भी माधुर्यहीन ऐश्वर्य उन्हे अधिक काल तक अपने मे नही रमा सकता।

धूप को चाँदनी मे बदलने की ख्वाहिश, मध्याह्न के जलते हुए आकाश को साध्य सूर्य के गैरिक वसन से ढँक देने की चाह तथा कोलाहल से भरे विश्व को शान्ति की शुभ्र चादर से आवृत कर देने की कामना रवीन्द्रनाथ की अपनी विशेषता है। प्रकृति की क्रियाओ के भीतर व्याप्त जिस सनातन नियम का उन्हे पता चला है, वह नियम शाति का नियम है, वह नियम सामञ्जस्य और सौन्दर्य का नियम है, वह नियम मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता और सहानुभूति की सत्ता का—

नियम है। जहाँ भी मनुष्य-मनुष्य का संगम है, जहाँ भी मनुष्य के व्यक्तित्व को गौरव, विस्तार और अनन्तता प्रदान करनेवाले उपकरण है, वे सभी स्थल रवीन्द्र-नाथ के प्राणो के पहचाने हुए है। इसके विपरीत, जातिरक्षा, देशरक्षा, समाज-रक्षा और आत्मरक्षा के लिए किये जानेवाले सारे प्रयत्न आवश्यकता के वृत्त मे पड़ते हैं। अतएव, वे छोटे और उपेक्षणीय है। इस आवश्यकता की परिधि के बाहर जो अनावश्यक आनन्द की भूमि है, रवीन्द्र उसी भूमि मे रहते है। यह वह भूमि है जहाँ कला का कोई उद्देश्य नही, जहाँ आदमी का विकास सघर्ष के तनाव मे कसे रहने से नही, बल्कि, अपने हाथ से छूट जाने के कारण होता है। धूल, धूम, कोलाहल और कर्कशता से पूर्ण इस गोचर विश्व के बीच अनतकाल से एक और विश्व चला आ रहा है जिसे रूप नही है, जो उन लोगो की रचना है जो वास्तविकता को अपने व्यक्तित्व के माधुर्य से दबा सकते हैं, जिनकी कल्पना मे काँटा भी फूल और पत्थर भी पानी हो जाता है। वास्तविकता की उपेक्षा करके आनन्द की वायु मे झूलनेवाली वह अनोखी दुनिया जिनमे बैठकर कवि सुख से यह कह सके कि.—

आज कोनो काज नय, सब फेले दिये
छन्दोबन्ध, ग्रन्थगीत, एसो तुमि प्रिये
आजन्म साधना-धन, सुन्दरी आमार
कविता, कल्पना-लता। [मानस-सुन्दरी : सोनार तरी।]

यह कला के एक रूप की बात हुई जिसकी प्रक्रिया सौन्दर्य का विधान और जिसका लक्ष्य निरुद्देश्य आनन्द है यह वह कला है जो हमे ससार के कोलाहल से ऊपर ले जाकर जीवन के उस रूप का दर्शन कराती है जिसमे शान्ति, सुषमा और सामजस्य ही सामजस्य है। मगर जिन्दगी मे केवल शान्ति, सुषमा और सामजस्य ही नही है, वहाँ सघर्ष की ज्वाला, अशान्ति का कोलाहल और वैषम्य के घात-प्रतिघात भी है और कला उनकी भी अभिव्यक्ति कर सकती है।

इकबाल

रवीन्द्रनाथ मे भारतीय समाज की संघर्ष-भावना, हलचल और अशान्ति तथा वैषम्य के घात-प्रतिघातो की सीधी और बेधक अभिव्यक्ति क्यो नही हुई, इस बात की व्याख्या उस प्रसग मे की जा चुकी है जिस प्रसग मे यह बतलाया गया है कि उनके उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि क्या थी। रवीन्द्रनाथ ने कर्म को प्रेरित करने के उद्देश्य से कुछ भी नही लिखा, क्योकि, जिन परिस्थितियो ने उन्हे उत्पन्न किया था वे कर्म की अपेक्षा ज्ञान और आनन्द के अधिक समीप थी। किन्तु, इकबाल का जन्म एक सर्वथा भिन्न परिस्थिति के कारण हुआ था, अतएव, उनके भीतर कला भी एक सर्वथा भिन्न रूप मे प्रकट हुई। वे समाज का

मनोरंजन करने नही, बल्कि, उसके रूप को बदलने आये थे, इसलिए, यह आवश्यक था कि उनकी कला मे रंगीनी कम, बेधकता अधिक हो; मन को मोहनेवाली खूबसूरती थोडी, दिल को झकझोरनेवाली ताकत अपार हो तथा उसमे मम्मट की सद्यः परिनिर्वृत्ति' के अंश अल्प एवं 'कान्तासम्मित उपदेश' की मात्रा ज्यादा हो। कला के इन दो रूपो मे कौन श्रेष्ठ और कौन हीन है, इसपर फतवा देने की कोशिश मुझे बेकार मालूम होती है क्योकि कविता के कलाकार को अपने-आप पर उतना बस नही होता जितना सगीतज्ञ के समान कुछ अन्य कलाकारो को होता है। प्रेरणा की लहर पर चलनेवाला कवि पडितो के हाथो ज्यादा नम्बर पाने के उद्देश्य से अपने-आपको किसी धारा-विशेष के साथ बाँधकर नही रख सकता। क्रोमे की अगर कोई बात मुझे सबसे अकाट्य दीखती है तो वह यह है कि कला मे विषयो का चुनाव नही होता। जिस प्रकार, प्रत्येक कविता लिखने के समय कवि किसी अनिर्वचनीय प्रेरणा के अधीन होता है, उसी प्रकार, उसके समस्त जीवनव्यापी भाव अथवा सदेश पूर्व से ही निश्चित रहते है और उन्हे छोडकर वह अन्यत्र नही जा सकता। कविता लिखना हमेशा सधे हुए गले से मनचाही आवाज निकालने के समान अपने बस की बात नही होती। उसमे कुछ सयोग और जुएवाली भी कैफियत है जिसे कवि लाख कोशिश करने पर भी नियत्रण मे नही ला सकता। चाहे ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रभाव के कारण हो अथवा शिक्षा-दीक्षा और संस्कार के कारण, किन्तु, प्रत्येक योग्य कवि का कोई एक निश्चित क्षितिज बन जाता है जिससे उसके भाव उतरा करते है। उसके भीतर कोई एक शासिका-शक्ति पैदा हो जाती है जिसकी वह अवहेलना नही कर सकता। किसी कवि पर यह लांछन लगाना कि उसने अपने विषय का ठीक चुनाव नही किया, बहुत कुछ वैसी ही बात है जैसे किसी आदमी से यह कहना कि वह अपनी इच्छा के अनुसार जन्म क्यो नही ले सका। और, शास्त्राचार्यो के इस प्रकार के निर्णय से कुछ आता-जाता भी नही है। टेकनीसियन की प्रशसा कोई अनुचित प्रशसा नही होती, मगर, टेकनिक की कसौटी को ठोक पीटकर सदा के लिए एकरूप कर छोडना साहित्य मे नवीनता के द्वार को अवरुद्ध करना है। कोई नया कलाकार या कवि केवल यह कह देने मे कवि और कलाकार की श्रेणी से बाहर नही किया जा सकता कि वह उस कसौटी पर खरा नही उतरता है। जिस पर पहले की कृतियाँ कसी जा चुकी हैं। सम्भव है, पहले की कृतियाँ उन परिस्थितियो के जवाब में नही जन्मी हो जो पहाडो का उन्मूलन और आसमान को समेटकर मुट्ठी मे बन्द करना अपना लक्ष्य समझती हैं। सम्भव है, उन्हे उस भावना से पाला ही नही पडा हो जो वास्तविकता की छाती मे निकलनेवाले चीत्कार को अपना गीत बनाना चाहती है। जिनके आगमन से दुनिया डावाँडोल

होने लगती है, पेड के पुराने पत्ते झरने और मृत्यु की ठढी राख सुगबुगाने लगती है, उनकी कृतियो को केवल टेकनिक की कसौटी पर कसकर यह फतवा देना कि वे ऊँचे या छोटे कवि है, वडी ही हिम्मत का काम है।

"कोई कृति साहित्य है या नही, इसका फैसला तो साहित्यिक मानदडो से ही होता है, किन्तु, साहित्य की उच्चतम कृतियो की पहचान केवल साहित्यिक मानदडो से ही नही की जा सकती।"*

समय जब अपने लिए नयी तलवार बनाना चाहता है तब वह नये-नये भावो को रूप देने के लिए नये कवि और कलाकार पैदा करता है जो प्राचीन भाव-धाराओ को मोडकर अथवा नयी भावधाराओ की ईजाद करके समय की प्रगति मे सहायक होते हैं। इस दृष्टि से समय की ताकत बहुत बडी चीज है और वह साहित्य की शैली को भी प्रभावित करती है। जब शैली की भूमि मे नवीनता की आभा पडती हो अथवा जब कोई महान कवि या कलाकार हमसे यह माँग करता हो कि तुम काव्य-सम्बन्धी अपनी धारणा मे थोडी तरमीम लाओ, तब उचित यही है कि हम सोच-समझकर यह सशोधन स्वीकार कर ले अन्यथा जनता और काव्यशास्त्र के बीच कोई मेल न रह जायगा। शास्त्राचार्य एक चीज कहे और जनता अपनी भक्ति ठीक उलटी चीज को अर्पित करे, इससे तो अधिक शोभाजनक और सत्य-समन्वित कार्य यह होगा कि शास्त्रविद् सचाई के हृदय मे निकलनेवाली नयी आवाज की कद्र करें और उसे वह स्थान देने मे हिचकिचाहट नही दिखलायें जिसकी वह अधिकारिणी है।

जिस प्रकार, रवि वावू के कलाविषयक विचार उनके शान्तिप्रेम और विश्ववाद-विषयक विश्वासो मे प्रभावित है, उसी प्रकार, इकवाल के कला-सवधी सिद्धान्त उनकी सघर्ष-प्रियता से जन्मे है। इकवाल यह नही मानते कि शान्ति और निश्चेष्टता मनुष्य के स्वाभाविक धर्म है। वे यह भी नही मानते कि कला अथवा कलाकार का व्यक्तित्व उस भूमि मे उत्पन्न होता है जो Superfluous या अनावश्यक है। इस सम्बन्ध मे उनकी उक्तियो मे जो सार ध्वनित होता है वह, कदाचित्, इस प्रकार रखा जा सकता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व शान्ति नही, संघर्ष मे विकसित होता है और कला इसी सघर्ष की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार इकवाल के मतानुसार, कला जीवन मे निकलकर फिर जीवन को ही प्रभावित करती है। अतएव, कला की उन्नति और विकास की पहली शर्त यह है कि कलाकार

*The greatness of literature cannot be determined solely by literary standard, though, we must remember that whether it is literature or not can be determined by literary standard only. [Eliot.]

का जीवन उन्नत और शक्तिशाली हो। जो जाति जितनी बड़ी है, उसकी कला भी उतनी ही ऊँची और महान होती है। कला एक प्रकार की निर्झरिणी है जो हमारे हृदयों से फूटकर फिर हमे ही अभिषिक्त करती है। इसलिए, अगर हमारी भीतरी हालत ठीक नही है तो जो रोग इस निर्झरिणी के साथ बाहर निकलता है वही फिर लौटकर हममे वापस आ जाता है। ऐसी अवस्था मे कला जीवन का अभिशाप हो जाती है और वह जातियो को और भी कमजोर बना देती है।

जिस प्रकार, अपने स्तर पर रवीन्द्रनाथ ने कला और व्यक्तित्व के बीच अन्योन्य सम्बन्ध का होना स्वीकार किया है, उसी प्रकार, एक भिन्न दिशा मे इकबाल भी कला और व्यक्तित्व को एक दूसरे से सम्बन्ध मानते हैं। "असरारे-खुदी" नामक अपने फारसी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है कि "सभी जीवन का रूप वैयक्तिक होता है, विश्वजीवन जैसी किसी चीज का वजूद नही है। स्वय परमात्मा भी एक व्यक्ति है, यद्यपि उसका व्यक्तित्व अन्य सभी व्यक्तित्वो से अनोखा और भिन्न है। यह सारी सृष्टि व्यक्तियो के एक बृहत् समूह के समान है और हम सब उस महान् और अनूठे व्यक्तित्व का अनुकरण कर रहे है।" परमात्मा के महान् व्यक्तित्व मे अपने व्यक्तित्व के लय कर देने को सभी धर्मों ने मनुष्य का चरम लक्ष्य माना है, किन्तु, इकबाल इस दर्शन को स्वीकार नही करते। वे कहते है, मनुष्य को अपने भीतर ईश्वरीय गुणो का विकास करना चाहिये जिससे कि वह खुद भी ईश्वर के समान हो जाय। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यह वेदान्त की भी घोषणा है। किन्तु, इकबाल इस अवस्था से भी आगे बढकर मनुष्य से यह कहना चाहते है, कि तू अपने-आप का इतना विकास कर कि तू इस दुनिया मे नही, बल्कि, यह दुनिया ही तुझमे खो जाय और स्वय भगवान की इच्छा तेरी इच्छा मे विलीन हो जाय।

> खुदी को कर बलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले,
> खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है ? [बांगे-दरा]
> जँचते नहीं कंजश्को-हमाम इसकी नजर मे,
> जिबरीलो-सराफील का सैयाद है मोमिन। [बाले-जिबरील]
> काफिर की ये पहचान कि अफाक में गुम है,
> मोमिन की ये पहचान कि गुम इसमें है अफाक ! [बाले-जिबरील]

मनुष्य का यह विकास केवल शान्ति-सेवन और निवृति की आराधना से नहीं हो सकता। इसके लिए तो उसे निरन्तर सघर्ष करना चाहिये। जीवन के विकास का मार्ग निवृत्ति नही, प्रवृति है। वास्तविकता से पीठ फेर लेना अपने पौरुष का आप ही अपमान करना है। व्यक्तित्व तो उसे कहते हैं जो इस वास्तविकता को अपने भीतर खीच कर पचा ले।

"मनुष्य का नैतिक और धार्मिक आदर्श निवृत्ति नही, प्रवृत्ति है और अपने इस आदर्श की प्राप्ति के लिए उसे अधिक-से-अधिक वैयक्तिक, औरो से अधिक-से-अधिक भिन्न और निराला होना पड़ता है।"*

जीवन बहुत सारी बाधाओ से घिरा हुआ है। जिन्दगी बहुत-सी शर्तों के अधीन है। सृष्टि मे सबसे अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति परमात्मा है। अतएव, परमात्मा तक पहुँचने के लिए हमे भी अपनी बाधाओ से मुक्त होना चाहिये। परमात्मा की कामना, असल मे, अपनी मुक्ति की ही कामना है। इसलिए मानव-जीवन को स्वाधीनता अथवा मुक्ति के लिए किया जानेवाला अनवरत प्रयास समझना चाहिये।

और चूँकि जीवन का धर्म चेष्टा और प्रयास है, इसलिए, इकबाल व्यक्तित्व को संघर्ष अथवा तनाव की स्थिति कहते है और यह मानते है कि व्यक्तित्व की सत्ता तभी तक कायम रहती है जब तक यह तनाव ढीला नही होता।

"जिसे हम व्यक्तित्व कहते है, वह एक सघर्ष की अवस्था है और जब तक यह व्यवस्था बनी रहती है तभी तक मनुष्य मे व्यक्तित्व का भी तेज रहता है।"†

जभी यह सघर्ष शिथिल होने लगता है, आदमी का व्यक्तित्व भी मन्द पडने लगता है। अपने भीतर सघर्ष की यह अवस्था पैदा करना मनुष्य की सबसे बडी सफलता है और जो चीजे इस तनाव को कायम रखती है, वे ही हमे अमरता की ओर ले जाती हैं तथा जो चीजे उसमे शैथिल्य उत्पन्न करती हैं, वे हमें मृत्यु की ओर ले जाती हैं। व्यक्तित्व का यही तनाव, निरन्तर सघर्ष मे लीन रहने की यही मन स्थिति इकबाल के सारे दर्शन का आधार है और इसी कसौटी पर वे कला, धर्म, नैतिकता और राजनीति, सभी का मूल्य आँकते है।§

इकबाल कहते हैं कि मनुष्य के सभी प्रयासो का लक्ष्य अपने जीवन को गौरवपूर्ण, सबल और समृद्ध बनाना है। आदमी की जितनी भी कलाएँ है, उन्हे

---

*The moral and religious ideal of man is not selfnegation, but self-affirmation and he attains to this ideal by becoming more and more individual. more and more unique [Secrets of the Self by R A Nicholson . भूमिका-भाग]

† Personality is a state of tension and can continue only if that state is maintained [Secrets of the Self by Nicholson]

§That which fortifies personality is good, that which weakens it is bad. [Secrets of the Self.]

इस एक लक्ष्य की अधीनता स्वीकार करनी ही चाहिये, क्योंकि सभी कलाओ की केवल एक कसौटी है कि उनमे जीवनदायिनी क्षमताओ का कितना प्राचुर्य है। इकबाल के मतानुसार सबसे बडी कला वह है जो हमारे भीतर सोयी हुई इच्छा-शक्ति को जगाकर उसे कार्य की ओर प्रेरित करती है तथा हमारी शिराओ मे चेतना भर-कर हमे वीरतापूर्वक जीवन की कठिनाइयो का सामना करने को तैयार करती है। इसके विपरीत, जो भी कला हममे आलस्य भरती अथवा कल्पित सौन्दर्य के भुलावे मे डालकर हमे जीवन से दूर ले जाती है, वह हीनता, विनाश और मृत्यु की कला है।

"जो भी चीजें हममे आलस्य और निद्रा का संचार करती हैं, जो भी चीजें हमारी आंखो से उस वास्तविकता को ओझल करती है, जिसे अधिकार मे लाये बिना जीवन टिक नही सकता, वे सब की सब मृत्यु और विनाश लानेवाली है।"†

"कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त का तिरस्कार करने मे इकबाल को उतनी भी झिझक नही है जितनी झिझक कलावादियो को उसे स्वीकार करने में होती है। जो कला जीवन को प्रेरणा नही देती, उसे वे कथमपि स्वीकार करने के पक्ष मे नही हैं।

"कला मे अफीम-सेवन करने के लिए गुंजाइश नही होनी चाहिये। 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त पतनशीलता का प्रपंचपूर्ण आविष्कार है और उसका ध्येय भुलावे मे डालकर हमे अशक्त बनाना है जिससे की हमारे हाथो का आविष्कार दूसरो के हाथ मे चला जाय।"*

निरुद्देश्यता, वायवीयता और कर्महीनता के साथ कला का जो परपरागत सम्बन्ध रहा है और कला के जिस अपार्थिव रूप पर पंडितो और आलोचको का अत्यधिक जोर रहा है, शायद, उसी को देखते हुए इकबाल ने जगह-जगह पर यह इंगित किया है कि मैं कवि नही हूँ, मेरी वाणी को केवल कविता के रूप मे ग्रहण मत करो। जिस प्रकार, रवीन्द्र मे धरती की पीडाएँ भी निराकार सुषमा का रूप धारण कर लेती है, उसी तरह, इकबाल मे आकर सारी खूबसूरती का मकसद आदमी के भीतर कोई बड़ा भाव जगाना हो जाता है। रवीन्द्रनाथ की 'आज कोनो काज नय सब फेले दिये' वाली मुद्रा कही-कही इकबाल मे भी मिलती है।

---

†. All that brings drowsiness and makes us shut our eyes to reality around, on the mastery of which abone life depends, is a message of decay and death. [Secrets of the Self· भूमिका-भाग]

* There should be no opium-eating in art The dogma of art for the sake of art is a clever invention of decadence to cheat us out of power [Secrets of the Self: भूमिका-भाग]

दुनियाँ की महफिलो से उकता गया हूँ या रब,
क्या लुफ्त अंजुमन में जब दिल ही बुझ गया हो ? [बाँगे-दरा]

इस कविता मे इकबाल एक शुद्ध कलाकार की तरह अपने हाथ से छूटे हुए-से प्रतीत होते है और वे घूम-घूमकर उन सुषमाओ का रस लेते है जो रवीन्द्र की अनावश्यक भूमि की सुषमाएँ है, जिनका उद्देश्य केवल आनन्द का दान है, जो आदमी को भुलाकर जिन्दगी से दूर ले जाने की ताकत रखती है और जिनपर सदियो से शुद्ध कलावादियो का समुदाय जी-जान से लट्टू रहा है।

पानी को छू रही हो झुक-झुक के गुल की टहनी
जैसे हसीन कोई आईना देखता हो।
मेहदी लगाये सूरज जब शाम की दुल्हन को,
सुर्खी लिये सुनहरी हर फूल का कबा हो।
पच्छिम को जा रहा हो कुछ इस अदा से सूरज,
जैसे कोई किसी के दामन को खीचता हो।
जुल्मत झलक रही हो इस तरह चांदनी मे,
ज्यो आँख में सेहर की सुरमा लगा हुआ हो। [बाँगे-दरा]

मगर, ये सुषमाएँ इकबाल के मकसद पर परदा नही डाल सकती। जो चीज उनके दिल को जितना ही हिलकोरती है, वह उनके उद्देश्य को भी उतना ही तेज बनाती है। ये सुन्दरताएँ, शायद, मोहनी है जिन्हे दिखलाकर वे लोगो को अपने दिल की बात सुनने को तैयार करते है। ये छवियाँ, शायद, मम्मट की कल्पना की 'कान्ताएँ' है जिनके मुख से वे अपना दर्द लोगो के दिलो तक पहुँचाना चाहते हैं। 'एबार फिराओ मोरे' मे रवीन्द्रनाथ ने स्थूल को लेकर क्रान्तिकारी की तरह आरम्भ किया, किन्तु, अन्त तक जाते-जाते वे निराकार की भूमि मे चले गये। इसके प्रतिकूल, वर्त्तमान कविता को इकवाल कवि की तरह से आरम्भ करके उसे देशभक्त की तरह समाप्त करते है। यह उन दिनो की रचना है जब इकवाल खाँटी देशभक्त थे और जब अपने वतन की किस्मत पर रोने मे बढकर उनके लिए और कोई प्यारा काम नही था। खूबसूरती की इस महफिल म घूमते-घूमते न जाने क्या सोचकर वे रो पडते हैं और जिस नज्म मे आनन्द और खुशी की ऐसी घटा उठी थी, वह नाले या रुदन मे समाप्त हो जाती है।

दिल खोलकर बहाऊँ अपने वतन पै आँसू,
सरसब्ज जिसके नम से बूटा उमीद का हो।
इस खामुशी में जायें इतने बलन्द नाले,
तारों के काफले को मेरी सदा दरा हो।

हर दर्दमन्द दिल को रोना मेरा रुला दे,
बेहोस जो पड़े हैं, शायद उन्हे जगा दे। [बाँगे-दरा]

इकबाल ने जो खुलकर सोद्देश्य कला के पक्ष का समर्थन किया उससे इकबाल की मुखालफत करनेवाले आलोचको के हाथ मे एक तलवार तो अनायास ही आ गयी, मगर, सब कुछ होते हुए भी हम उनकी सचाई से इनकार नही कर सकते। अपनी रचनाओ से वे सहज ही यह प्रभाव उत्पन्न करते है, कि उनमे कोई प्रज्वलित सत्य छिपा हुआ है जो बाहर आना चाहता है, उनके सामने कोई लक्ष्य है जिसे वे, शीघ्र-से-शीघ्र, प्राप्त करना चाहते है। महाकवि अथवा महान कलाकार कहलाने मे जो सुख है, वह उनका ध्येय नही है।

जीना वो क्या जो हो नफसे-गैर पर मदार,
शुहरत की जिन्दगी का भरोसा भी छोड़ दे। [बाँगे-दरा]

काव्यकला का माध्यम उन्होने इसलिए नही चुना कि आनन्दविधायक कलाकारो की पंक्ति मे उन्हे इज्जत की जगह हासिल करनी थी, बल्कि, इसलिए कि उन्हे मुस्लिम-समाज का हृदय झकझोर कर उसे जाग्रत करना था और आदमी के दिलपर कब्जा करने की 'शार्टकट राह' कविता ही है। सिद्धान्त के स्तर पर कला को साधन तो सभी मानते है, मगर, आचार्यों की एक कमजोरी है कि वे कला को साध्य समझ लेने को भी कोई बडा दोष नही मानते। इकबाल ने कला को जीवन से कभी भी ऊपर नही माना। असल मे, व्याख्या उन्हे जीवन की करनी थी, कला उसमे सहायता देने को आयी। उनका आनन्द केवल अभिव्यक्ति का आनन्द नही है, वे उस अभिव्यक्ति को लोगो तक पहुँचाना भी चाहते हैं और कला का महत्त्व वे यह मानते है कि वह इस काम को बखूबी अंजाम दे सकती है। और उनका यह विश्वास बहुत सही निकला है; क्योंकि रुदन और गर्जन, दोनो का, उनकी कला ने पूरी सफलता से वहन किया है। इकबाल के गरजते हुए भावो का साथ उनकी कला ने किस सहजता से दिया है, इसका उदाहरण 'शिकवये खुदा' का वह अंश है जहाँ इकबाल इस्लाम की गत गरिमाओ की याद करते है और उनका रुदन कला से मिलकर कितना रंगीन हो सकता था, इसका उदाहरण 'तस्वीरे-दर्द' की ये पंक्तियाँ है जिनमे उनके दिल की कचोट इन्द्रधनुष की सतरंगी साडी पहनकर सामने आयी है।

उठाये कुछ वरक लाले ने, कुछ नरगिस ने, कुछ गुल ने,
चमन हर मे तरफ बिखरी हुई है दास्ताँ मेरी।
उड़ा ली कुमरियो ने, तूतियो ने, अन्दलीबो ने,
चमनवालों ने मिलकर लूट ली तर्जे-फुगाँ मेरी।

टपक अय शमआ, आँसू बन के परवानों की आंखों से,
सरापा-दर्द हूँ, हसरत-भरी है दास्ताँ मेरी।
हुवेदा आज अपने जख्मे-पिनहाँ करके छोड़ूँगा,
लहू रो-रो के महफिल को गुलिस्ताँ करके छोड़ूँगा।
जलाना है मुझे हर शम-ए-दिल को सोजे-पिनहाँ से,
तेरी तारीक रातों को चिरागाँ करके छोड़ूँगा।
पिरोना एक ही तसबीह में इन बिखरे दानों को,
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोड़ूँगा। [बांगे-दरा]

भाषा और भाव, जब दोनो एक दूसरे से मिलने के लिए बेकरार होते है, तभी साहित्य मे ऐसी अनमोल पक्तियाँ लिखी जाती है। कलावादी की राय मे यह कला का चमत्कार समझा जायगा और विषयवादी कहेगे कि इसमे भाव की तीव्रता का चमत्कार है। परन्तु, सचाई यह है कि जब तक भाव और भाषा का भलीभाँति मेल नही हो जाय, तब तक काव्य मे वह चमत्कार नही आता जिसे खोकर रसिक मग्न और आलोचक मूक हो जाते है।

जिस प्रकार, रवीन्द्र का कला-सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन मे गुँथा हुआ है, उसी प्रकार, इकबाल के भी कलासम्बन्धी विचार उनके दर्शन से ही आये है। मगर, दोनो महाकवियो के दृष्टिकोण मे बडा ही भेद है। रवीन्द्र शान्ति के प्रेमी, सुन्दरता के पुजारी और भगवान के विनम्र भक्त है। उनकी अन्तिम कामना है, शान्ति के समुद्र मे बहते हुए परमात्मा की शरण मे पहुँच जाना।

सम्मुखे शान्ति-पारावार, भासाओ तरणी हे कर्णधार !

मगर, इकबाल की कल्पना सघर्ष से तनी हुई उद्दाम पुरुष की कल्पना है, और आदि से अन्त तक अङ्गारो की तरह जीकर वे भगवान के पास भी इसी रूप मे पहुँचना चाहते है, जिससे भगवान से उन्हे अपनी खता की माफी करानी नहीं पडे, उलटे, भगवान ही उनसे पूछे कि बता, तुम्हारी क्या इच्छा है। और इकबाल की सौन्दर्य-भावना भी उनकी संघर्ष और शक्तिवाली भावना से अलग नही है। वे किसी भी ऐसे सौन्दर्य को स्वीकार नही करते जिसके भीतर सुन्दरता के साथ शक्ति का भी मेल नही हो, जिसके चारो ओर जिन्दगी की चिनगारियाँ नहीं छिटक रही हो।

न हो जलाल तो हुस्नो-जमाल बेतासीर,
निरा सफल है अगर नरमा न हो आतिशनाक। [बाले-जिबरील]

और तो और, इकबाल कहते है कि अगर मुझे नरक मे जाना पडा तो वहाँ भी मैं उस आग को तो कभी बर्दाश्त नही करूँगा, जिसके शोले बेबाक और तेज नही हो।

मुझे सजा के लिए भी नहीं कबूल वह आग,
कि जिसका शोला न हो तुन्दो-सरकशो-बेबाक। [बाले-जिबरील]

रवीन्द्र कण-कण मे परमात्मा की विभूति का दर्शन करनेवाले रसस्निग्ध कवि है तथा वे आकाश के सदेश को पृथ्वी की पहुँच मे लाते है।

एई ये तोमार प्रेम ओ गो हृदयहरण,
एई ये पाताय आलो नाचे सोनार वरण। [गीताजलि]
चित्त आभार हारालो आज मेघेर माझखाने,
कोथाय छूटे चलेछे से कोथाय के जाने? [गीताजलि]

प्रकृति मे परमात्मा की विभूतियो के दर्शन इकबाल ने भी किये हैं और उनके चित्रण से इकबाल की सूफियाना मुद्रा काफी खुशनुमा और रङ्गीन भी हुई है। मगर, उनके कला-सम्बन्धी सिद्धान्तो को समझने मे वे कविताएँ सहायक नही होती जिनमे अनन्तता की झिलमिलाहट अथवा कल्पना की रङ्गीनी आशकार हुई है। इस प्रसग मे तो उनकी वे रचनाएँ ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है जिनमें उनके व्यक्तित्व का तनाव झलकता है, जिनमे वे मिट्टी की आग को आकाश की ओर भेजते हैं और पुरुष को यह सदेश देते हैं कि जहाँ भी कोई जोखिम और विरोध है, वही तुम्हारी क्रिया का भी क्षेत्र है।

मेरी नवाये-शौक से शोर हरीमे-जात में,
गुलगुलहाये-अलअमाँ बुतकद-ए-सिफात में,
हूरो-फरिश्ता हैं असीर मेरे तखैयुलात में।
मेरी निगाह से खलल तेरी तजल्लियात में। [बाले-जिबरील]
....
खतर-पसन्द तबीयत को साजगार नहीं,
वो गुलसिताँ कि जहाँ घात में न हो सैयाद। [बाले-जिबरील]

ऊपर के एक प्रसग मे कहा जा चुका है कि १९ वी सदी का मुस्लिम-समाज अपनी तमाम उलझनो के निदान के लिए एक कवि की राह देख रहा था और वह कवि इकबाल के व्यक्तित्व मे आया। अतएव, इकबाल को एक तरह से जिन्दगी की जरूरतो ने पैदा किया था। उनका दर्शन केवल पुस्तकीय दर्शन नही था। किताबो के साथ-साथ उन्होने जिन्दगी का भी दूध पिया था और अपने जीवन-दर्शन का विधान करते हुए वे बराबर इस बात से अवगत रहे कि उन्हे, प्रधानत:, दुरवस्था मे पडे हुए मुस्लिम समाज का उद्धार करना है। अतएव, इस राह मे जो-जो बाधाएँ आईं, उन्हे उन्होने बडी ही बेरहमी से कुचल डाला। प्लेटो का निवृत्ति-मार्ग, हिन्दुत्व का मायावाद, बौद्धमत का शून्यवाद और मुस्लिम कवियो का रहस्यवाद, ये सभी चीजें इकबाल को बाधक मालूम हुईं और उन्होने इन

सबके प्रभाव से इस्लाम को मुक्त करने का ध्येय अपने सामने रख लिया। "असरारे-खुदी" मे प्लेटो के सिद्धान्तों का जो खण्डन उन्होने किया है वह अनुवाद मे भी बडा ही तेजस्वी और बेधक दीखता है।* इसी प्रकार का प्रहार उन्होने हाफिज पर भी किया, क्योकि उनका विश्वास था कि हाफिज-जैसे कवियो की गजलो के कारग भी इस्लाम के पौरुष का ह्रास हुआ है; जीवन की नश्वरता का चित्र खीचकर मनुष्य को अकर्मण्य अथवा विरक्त करनेवाला दर्शन इकबाल की दृष्टि मे मृत्यु का दर्शन है। अपने इस पक्ष का समर्थन करते हुए उन्होने लिखा है कि :—

"प्लेटो का मैंने जो विरोध किया है वह, असल मे, दर्शन के उन सभी सिद्धान्तो का विरोध है जो जीवन की जगह मृत्यु को अपना आदर्श मानते है। जीवन की सबसे बडी बाधा द्रव्य अथवा प्रकृति है। मगर, ये दर्शन इस मूल-बाधा से ही आँखे फेर लेते है और मनुष्य को उसे जीतकर आत्मसात् करने के बदले उससे पीठ फेरकर भाग खडे होने की सलाह देते है।"†

इसी प्रकार, हाफिज-जैसे मादक कवियो का अनुकरण करनेवाले कलाकारो के लिए भी उनके पास सिर्फ उपेक्षा, व्यंग्य और भर्त्सना के ही शब्द है।

इश्को-मस्ती का जनाजा है तखैयुल इनका,
इनके अन्देशये-तारीक में कौमो के मजार।
चश्मे-आदम से छिपाते है मुकामाते-बलन्द,
करते है रूह को ख्वाबीदा, बदन को बेदार।
हिन्द के शायरो-सूरतगरो-अफसानानवीस,
आह! बेचारो के आसाब पे औरत है सवार। [बाले-जिबरील]

संघर्ष और तनाव का कवि होने के कारण हम इकबाल को किसी असन्तोष की वृत्ति से बेचैन पाते है। कोई चीज है जिसकी जुस्तजू उन्हे सोने नही देती, कोई दृश्य है जिसे वे सब को दिखलाना चाहते है, उनके भीतर कोई आग है जिसे वे सबके दिलो मे पहुँचाने को बेकरार हैं।

---

*—देखिये Secrets of the Self. Chapters VI & VII.

†—My criticism of Plato is directed against those philosophical systems which hold up death rather than life as their ideal-systems which ignore the greatest obstruction to life, namely matter, and teach us to run away from it instead of absorbing it. [Secrets of the Self : भूमिका-भाग।]

जवानों को सोजे-जिगर बख्श दे,
मेरा इश्क, मेरी नजर बख्श दे,
मेरी नाव गिरदाब से पार कर,
ये साबित है, तू इसको सैयार कर।
मेरे दीद-ए-तर की बेख्वाबियाँ,
मेरे दिल की पोशीदा बेताबियाँ,
मेरा दिल, मेरी रज्मगाहे-हयात,
गुमानों के लश्कर, यकीं का सबात ;
यही कुछ है साकी, मता-ए-फकीर,
इसीसे फकीरी में हूँ मैं अमीर।
मेरे काफले में लुटा दे इसे,
लुटा दे किनारे लगा दे इसे।

[साकीनामा : बाले जिबरील]

ऐसी पंक्तियाँ कारीगरी से नही गढी जाती, वे तभी लिखी जाती हैं जब कलाकार के दिल में प्रेरणा की लहर और बेचैनी की आग होती है। सच पूछिये तो यह निरी कारीगरी से बहुत ऊपर की चीज है। यह वह अवस्था है जब जिन्दगी की धारा को बदलने वाले कवि के भीतर नबी या पैगम्बर की मुद्रा प्रकट होती है और वह तीर की तरह समाज के हृदय को चीर डालना चाहता है।

संघर्ष और निरन्तर संघर्ष, सफर और जिन्दगी भर का सफर, यह इकबाल की कविता से बारबार ध्वनित होनेवाला एक संदेश है। वे मनुष्य को कही भी बैठने की इजाजत नही देते। आदमी का काम चलना है, तबतक चलना जबतक आगे की राह शेष हो।

तू रहनवर्दे-शौक है, मंजिल न कर कबूल,
लैला भी हमनशीं हो तो महमिल न कर कबूल।

[टीपू की वसीयत : बाले-जिबरील]

तथा,

सितारो से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी है।
तू शाही है, पर्वाज है काम तेरा,
तेरे सामने आसमाँ और भी हैं। [बाले-जिबरील]

रवीन्द्र और इकबाल, दोनो, दो शिखरो के वासी हैं। किसी ने खूब कहा है कि रवीन्द्र शान्तिनिकेतन मे रहते थे, किन्तु इकबाल ने अपने रहने का घर ज्वालामुखी के मुख पर बनाया था। यह उक्ति और किसी की नही, सआदत अली

खाँ नामक एक मुस्लिम आलोचक की है* जिन्हे, शायद, यह भय था कि जिस दिन यह ज्वालामुखी फटेगा; इकबाल हवा मे उड जायेंगे। ज्वालामुखी को फटे कई साल हो गये, मगर यह विस्फोट इकबाल को हवा मे नही उडा सका, वे तो अपने ही "स्प्लिण्टर्स" पर चढकर लोगो के दिलो मे पहुँचे है और वहाँ उस रूप मे पूजित हो रहे है जिस रूप मे कवियो की पूजा तब होती थी जब कि दुनिया आज की तरह जवान नही थी। रवीन्द्र और इकबाल को लेकर शैली और द्रव्य का झगडा उठाना भी बेकार है, क्योकि द्रव्य की समृद्धि रवीन्द्र मे भी कम नही है और इकबाल की उक्तियाँ जो हम सबो को अभिभूत करती है, वह इस कारण नही कि हम उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते है, बल्कि इसलिए कि उनमे साहित्य का चमत्कार है। शायद, रवीन्द्र और इकबाल से मिलनेवाले दो प्रकार के आनन्द दो रसो की भिन्नता का द्योतन करते है और, यद्यपि, विश्लेषण के समय इकबाल की कविताओ मे रस-निष्पत्ति की सभी सामग्रियो को ढूँढ निकालना जरा कठिन काम होगा, लेकिन मैं मानता हूँ कि रवीन्द्र की रचनाओ मे श्रृङ्गार का वातावरण है तथा उनका प्रधान फल चित्त की द्रुति और विकास है। इसके विपरीत, इकबाल की रचनाओ का वातावरण वीर रस का वातावरण है तथा हमारे चित्त पर उसका प्रभाव ओज और दीप्ति के रूप मे पडता है। मगर, सच्ची बात यह है कि साहित्य मे श्रृङ्गार का स्थान वीर रस से हमेशा ही ऊँचा रहा है। यह भी कि रवीन्द्र विश्व भर के कवि है और उनकी कविताओ से भारतवर्ष से बाहर के लोगो को भी उतना ही आनन्द मिल सकता है जितना भारतवासियो को। मगर, इकबाल, प्रधानत., अपने धर्म के कवि है और उनकी कविताओ का एक सदेश तो सिर्फ उन्ही के लिए है जो उनके धर्मबन्धु है। एक अन्य रूप मे देखने पर रवीन्द्र और इकबाल के बीच वही भेद झलकता है जो ताण्डव और लास्य मे है। ताण्डव की उत्पत्ति शिव से हुई थी जब वे सती की मृत्यु से क्षुब्ध थे। लास्य का जन्म पार्वती से हुआ, जब वे प्रेम के कारण प्रसन्न थी। ताण्डव की उत्पत्ति पहले हुई, लेकिन, वह नीरस और शुष्क निकला, तभी पार्वती ने कृपा करके लास्य का आविष्कार किया। कहते है, पुरुष भी पहले बना था, किन्तु, मानवता का पूरा चमत्कार उसमे नही निखर सका, तभी ब्रह्मा को लाचार होकर नारी-मूर्त्ति की रचना करनी पडी। तब से सभ्यता का रथ नारी और नर, दोनो के सतुलित योग से चलता रहा है। सत्य दोनो मे से किसी एक के तिरस्कार मे नही प्रत्युत, दोनो के समुचित सहयोग मे है। जहाँ लास्य हो वहाँ ताण्डव भी रहेगा, जहाँ ताण्डव है वहाँ लास्य को भी स्थान मिलना चाहिये। क्योकि,

> विश्वे या किछु महान, सृष्टि-चिर-कल्याण-कर,
> अर्धेक तार करियाछे नारी, अर्धेक तार नर।—नजरुल

*—Iqbal : the Poet and his message By Dr. S. Sinha Page 239.

दिनकर : मनीषियों की दृष्टि में

☐ बिहार मे सरहपा से आज तक जितने हिन्दी कवि हुए है, उनमे दिनकर जी का विशिष्ट स्थान है। महाकवि विद्यापति से आधुनिक कवि-परम्परा तक दृष्टिपात करने से यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि बिहार के हिन्दी कवियो मे सरहपा और विद्यापति के बाद कोई ऐसा कवि न हुआ, जिसकी प्रसिद्धि समस्त भारत मे व्याप्त हो सकी हो तथा जिसने विदेशो मे भी हिन्दी की महिमा प्रदर्शित की हो। उपर्युक्त दोनो पुराने कवियो को भी, उनके अपने जीवन-काल मे ही, देश-विदेशो मे उतना विख्यात होने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था, जितना 'दिनकर' जी को। यह हिन्दी के लिए और, विशेषत, बिहार के लिए स्वभावत बडे गर्व का विषय है।

—आचार्य शिवपूजन सहाय ☐

☐ दिनकर जी उन थोडे-से कवियो मे से है, जिनका काव्य शताब्दियो तक जीवित रहेगा। किन्तु, काल के प्रागण मे अधिक दूर तक उन्हे 'उर्वशी' ले जाएगी या 'कुरुक्षेत्र' ले जाएगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

दिनकर जी ने काव्य-पाठको का ध्यान विशेष रूप से इसलिए आकृष्ट किया कि उन्होने कला को वास्तविकता के समीप ला दिया, अथवा यो कहे कि राष्ट्रीय धारा की कविताओ मे उन्होने कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भगिमाएँ उत्पन्न कर दी। दिनकर जी मे शक्ति और सौन्दर्य का जो मणिकाचन-सयोग दिखाई पडा, वही उनकी कीर्ति का आधार बना।

—डॉक्टर लक्ष्मीनारायण सुधांशु ☐

☐ · दिनकर अद्वितीय है ·अगर मैं कहूँ कि दिनकर को मै हिन्दी साहित्य का एकमात्र क्रान्तिकारी कवि मानता हूँ, तो मेरे कथन मे अतिशयोक्ति नही होगी। · ···· 'दिनकर की कविता आज के युग की प्रतीक है। दिनकर वर्त्तमान युग के कवि है। (किन्तु) दिनकर युग की निराशा और विकृतियो का प्रतीक नही है। वह उस विनाश का प्रतीक है, जो निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। दिनकर की कला मे चिरन्तन प्राण-शक्ति है, दिनकर की आस्था अडिग है।

कलाकार की हैसियत से दिनकर को मैं सबसे अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता हूँ। दिनकर अपनी भावनाओ की सीमा छोड़ने को कही भी तैयार नही है। कही भी आरोपित विश्वासो और मान्यताओ का सहारा दिनकर ने नही लिया।

दिनकर का समस्त जीवन सघर्ष का रहा है इसलिए सघर्ष दिनकर के जीवन का मुख्य भाग बन गया है। इन सघर्षो मे दिनकर को सफलता भी मिली है। इसलिए सघर्ष की कटुता से दिनकर का व्यक्तित्व विशृङ्खल और लक्ष्यभ्रष्ट नही हुआ। लेकिन इसके साथ यह भी सत्य है कि इन सघषो ने दिनकर को, किसी हद तक, कठोर अवश्य बना दिया है।

और इस सब के साथ मुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि दिनकर हमारे इस युग के यदि-एकमात्र नहीं, तो सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि हैं।

—श्री भगवतीचरण वर्मा ☐

☐ दिनकर हिन्दी कविता के पराक्रमी कवि हैं और उनकी वाणी मे जाग्रत एव सशक्त पौरुष का उच्चार है। जोश मलीहाबादी ने दिनकर की प्रशसा मे एक बार निम्नस्थ रुबाई कही थी।

हिन्द मे लाजवाब है दोनो, शायरे-इनकलाब है दोनो,
देखने मे अगर्चे जर्रे हैं, वाकई आफताब हैं दोनो।

यो जोश स्वय क्रान्तिकारी शायर है। पर जब वे अपने सगोत्र के सम्बन्ध मे कहते हुए अपने सम्बन्ध मे भी कहते हैं, तो हमे उनकी गर्वोक्ति एवं स्वीकारोक्ति भली प्रतीत होती है। पर दिनकर ने अपने क्रान्तिकारी रूप मे केवल नाश और विध्वस ही नही चाहा। ... उन्होने विश्वमानव की सबसे बडी एव चिरन्तन समस्या का निदान काव्य की भाषा मे दिया है। हिन्दी मे अब तक 'कुरुक्षेत्र' नही लिखा गया था और न आगे लिखा जाएगा, यह निश्चित है।

—प्रो० कपिल ☐

☐ हिन्दी मे आजकल कोमल और मधुर भावना के अमर कवि अनेक हैं, परन्तु विराट् भाव को अपने पौरुष-दीप्त स्वरो मे बांधनेवाले कवि प्रसाद और निराला के बाद मुश्किल से नजर आते है। दिनकर का गौरव यह है कि उनको विराट और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त है। आज प्रसाद, पत, निराला और महादेवी का युग समाप्त-सा ही हो गया है, और अनेक प्रकार के नवीन जीवन-दर्शन तथा घोषणा-पत्रो के होते हुए भी हिन्दी काव्य-धारा उतार पर है। जब मैं उनके उत्तराधिकारियो की ओर दृष्टि डालता हूँ, तो सबसे अधिक आशा दिनकर से ही होती है।

—डॉक्टर नगेन्द्र ☐